साधु-दर्शन

लेखक—

श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य्य वीतराग
श्री १००८ स्वामी रामदेवजी

प्रकाशक
जटाशङ्कर—डोसा मोइ चांचाणी
शान्ति भवन
धनवाद—मानभूमि

कार्तिकपूर्णिमा

प्रथमवार २०००   संवत् २०११

भूमिका

मानव सदा से ही सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता चला आ रहा है। उसके लिए अनेक प्रकार के साधन भी आविष्कार किए हैं। और भी करता चला जा रहा है। किन्तु वास्तविक सुख की प्राप्ति किसी किसी ही सौभाग्यशाली को होती है। क्योंकि सुख प्राप्ति का साधन भी ठीक रीति से कोई एक ही कर पाता है। उसी साधन का नाम है सन्मार्ग और उस पर चलने वाले का नाम है साधु। किन्तु वर्तमान समय में साधु शब्द प्रयोग का दुरुपयोग किया जा रहा है। अतएव यह विचार स्वभावतः हुआ कि साधु शब्द का प्रयोग कहाँ करना चाहिये। इसका निश्चित निर्णय किया जाय जिससे भ्रान्ति न हो। इसी कारण यह साधु दर्शन नामक छोटा सा लेख लिखा है। यहाँ दर्शन शब्द से लक्षण विवक्षित है। यदि कहा जाय कि लक्षण शब्द ही क्यों नहीं रखा गया तो उसका कारण यह है कि दर्शन शब्द सुन्दर प्रतीत होता है। लक्षण शब्द में उतना सौन्दर्य्य नहीं। प्रायः दर्शन शब्द का प्रयोग लक्षण में ही किया जाता है। जैसे ब्रह्मदर्शन, योगदर्शन आदि किन्तु उनकी रीति से यहाँ नहीं लिखा गया है। यहाँ सरल रीति से विचार किया गया है। जिससे साधारण लोग भी यह समझ जाँय कि साधु किसको कहते हैं। दर्शन शब्द का अर्थ देखना तथा देखने का साधन भी है। जिस सन्मार्ग पर साधु चलते हैं उसका अर्थ सत् मार्ग, सत्यरूपमार्ग अथवा सत्यप्राप्ति का मार्ग या सत्पुरुष जिस मार्ग से गये हों वह मार्ग, सत् शब्द का अर्थ है। जो सदा एक रस रहता है। जिसका किसी देशकालादि में बाध नहीं होता जिसका अभाव नहीं होता। जो भाव अभाव के साथ विद्यमान रहता है। जिसके बिना किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जो अपनी सत्ता सिद्धि के लिये [illegible] अन्य की अपेक्षा नहीं करता वह सत है। उसी [illegible] साधन को भी सत कहते हैं। और उसको प्राप्त कर[illegible]

उसकी प्राप्ति का साधन करने वाले को भी सत कहते हैं। इन सबका यथार्थज्ञान जिसके द्वारा होता है। उसको सत शास्त्र कहते हैं। उसी का नाम वेद है। अतएव वेद तथा वेद का अनुसरण करने वाली स्मृतियों के प्रमाण द्वारा संक्षेप में सबका विचार किया है। आजकल अनेक वेष बनाकर साधु नाम रखकर अथवा उसके पर्य्याय महात्मा सन्त भक्त आदि नाम रखकर, बहुत से व्यक्ति जनता को ठगते हैं। यदि साधु के वास्तविक रूप को जान लिया जाय तो बञ्चकों के माया जाल से बचा जा सकता है। बहुत से तो वेष भी साधु का नहीं बनाते तब भी अपने आपको साधु महात्मा सिद्ध आदि कहते हैं। साधु महात्मा आदि नाम से ही भोली भाली जनता आकर्षित हो जाती है। तथा ठगी जाती है।

अतएव साधु वेष, रहन-सहन, उठना, बैठना बोलना, चालना, भोजन करना, सोना जागना, आदि कैसा होता है। इन सबको जानने के लिये ही सार रूप में लिख दिया है। जिससे भ्रम दूर हो जाय।

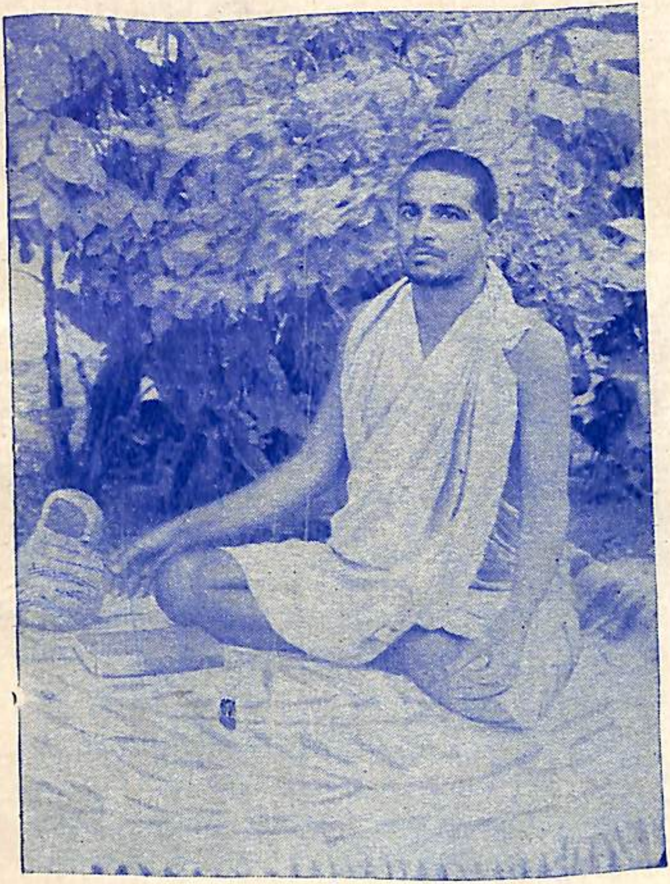
इसको पढ़ने से साधुओं को भी लाभ होगा तथा साधु सङ्ग करने वालों को भी लाभ होगा।

अतएव इसको सभी सज्जनों को पढ़ना चाहिये। और विचार करना चाहिये कि वास्तव में सत्य क्या है। यदि इसमें कोई भूल हो तो सुधार लेना चाहिये। यदि सन्देह हो तो हमसे प्रश्न करना चाहिये।

यदि इसको पढ़ने से एक भी व्यक्ति को लाभ होगा तो हम अपना परिश्रम सफल मानेंगे।

श्री वृन्दावन
भाद्रपद पूर्णिमा
सं० [illegible]२१ वि०

"रामदेव"



श्री १०८ वीतराग स्वामी रामदेव जी महाराज

॥ साधु दर्शन ॥

सच्चिदानन्द रूपेण सर्वस्य हृदि सुस्थितम् ।
परमेशं नमस्कृत्य करोमि साधु दर्शनम् ॥ १ ॥

सतचित आनन्द रूप जो, वसत सकल उर मांहिं ।
साधू दर्शन को करूँ, ईशहिं शीश नवाहिं ॥ २ ॥

नागपञ्चमी सुभग तिथि, भौमवार नभ मास ।
द्विसहस्रदशएक है, संवत् प्लवग सुवास ॥ ३ ॥

इस भारत देश में साधु शब्द से व्यवहृत होने वाले मनुष्य बहुत हैं। कहा जाता है कि वर्तमान समय में ६० लक्ष साधु हैं। साधु की महिमा इसकी सभी भाषाओं के साहित्य में गाई गई है साधु शब्द के पर्य्याय अन्य शब्दों का भी महत्व है। जैसे सन्त, महात्मा, त्यागी, वैरागी, उदासी, सन्यासी इत्यादि। इन नामों में भारतीय जनता की श्रद्धा भी अधिक है। इनके दर्शन से जनता को लाभ भी होता है, तथा कहीं कहीं इन्हीं के द्वारा धोखा भी होता है। इन सबके वेष भूषा रहन सहन भी अनेक प्रकार के हैं। इनका सम्प्रदाय (मत) भी अलग २ है। उस सम्प्रदाय के अनुसार ही वाह्य व्यवहार भी होता है। तथा दार्शनिक सिद्धान्तों में भी भेद है। उन सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अनेक ग्रन्थ

लिखे गये हैं। अब भी लिखे जा रहे हैं। इन सब में मतभेद भी बहुत हैं। जिन मतभेदों के कारण आपस में विद्वेष भी रहता है। यहाँ तक कि एक दूसरे को देख भी नहीं सकते। प्रायः इनके आचार्य्य विद्वान् होते हैं। वे शिष्य बनाते हैं। शिष्यों को अपने २ सिद्धान्त की शिक्षा देते हैं। वे सिद्धान्त दार्शनिक तथा व्यावहारिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त बुद्धि का विषय है। व्यावहारिक संसार में रहकर कार्य करने का है। भारत से भिन्न अन्य देशों में भी इसी प्रकार का मत मतभेद के सहित प्रचलित है। उनके मानने वाले इस देश में भी कुछ लोग हैं। किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं। जैसे मुसल्मान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि इस प्रकार समस्त संसार में साधु शब्द तथा उसका अर्थ किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

वास्तव में साधु शब्द का अर्थ क्या है। क्या सर्वत्र इसके अर्थ में एकरूपता है। यदि एक रूपता है। तो सबके सिद्धान्तों में मतभेद क्यों। वेष, भूषा, रहन-सहन भिन्न २ क्यों। परस्पर विद्वेष क्यों, क्या विद्वेष मिट सकता है। क्या सबका व्यवहार एक समान हो सकता है।

इन्हीं सब बातों के विचार करने के लिए साधु दर्शन लिखने की प्रवृत्ति हुई है यदि वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो साधु शब्द के अर्थ में कोई भी भेद नहीं। क्योंकि एक शब्द का वास्तविक अर्थ एक ही होता है। किसी कारणवश गौण रूप से अन्य अर्थ भी हो जाते हैं। जैसे सिंह शब्द का प्रयोग क्रूरता शूरता आदि गुण युक्त मनुष्य में भी होता है। कहीं कहीं भ्रमवश अर्थ का अनर्थ हो जाता है। कहीं वक्ता के अभिप्राय भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। इसका विचार व्याकरण आदि शास्त्रों में विस्तार से किया गया है। साधु शब्द का वास्तविक अर्थ है। सन्मार्ग में चलने वाला सन्मार्ग का परिज्ञान शास्त्रों के द्वारा होता

है। यदि शास्त्र का परित्याग करके मनमानी आचरण किया जायगा तो शान्ति और सुख नहीं प्राप्त होगा। जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता में उपदेश किया है।

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोतिन सुखं न परां गतिम् ॥ १६–२३

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ १६–२४

जो शास्त्र विधि का परित्याग करके अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है। वह न तो कोई सिद्धि प्राप्त करता है। न सुख प्राप्त करता है। न परा गति प्राप्त करता है तिस कारण कर्तव्य अकर्तव्य निर्णय के लिये शास्त्र प्रमाण है।

शास्त्र विधान में कहे हुए को जानकर कर्म करने के योग्य हो।

शास्त्र में कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था मानव प्रकृति भेद से अनेक प्रकार की है। देश कालादि के भेद से मानव प्रकृति का भेद हो जाता है। अतएव मानव प्रकृति की परीक्षा करके ही कर्तव्य का उपदेश करना चाहिए।

जैसा कि प्राचीन समय के सर्वज्ञ ऋषियों ने उद्घोष किया है।

देशकालवयोऽवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः।
धर्मोपदेशभैषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥

देश, काल, वय, अवस्था, बुद्धि, शक्ति के अनुसार धर्मोपदेश रूपी औषधि का उपदेश धर्मपारगतो के द्वारा करना चाहिए।

धर्मपारग का अर्थ है जो अच्छी प्रकार से मानव धर्म का अध्ययन किए हो। जैसे आयुर्वेद का जिसने अच्छी तरह से अध्ययन किया है। वही रोगियों के रोगादि की अच्छे प्रकार से

परीक्षा करके औषधि का प्रयोग कर सकता। अभिप्राय यह कि गुरु के द्वारा आयुर्वेद का अध्ययन तथा औषधि और रोगादि का विज्ञान प्राप्त करके ही वैद्य चिकित्सा करने के योग्य होता है। जब योग्यता प्राप्त हो जाय तब चिकित्सा करना चाहिए। नहीं तो रोगी को आरोग्यता प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि मनुष्य के शरीर को रोग रहित कर देना, इसी कारण रोग, रोगनिदान आरोग्यता का विचार किया जाता है। यदि इनके विचार में थोड़ी भी भूल हो जाती है। तो मनुष्य आरोग्यता का लाभ कभी नहीं कर सकता।

उपरोक्त विचार के साथ ही देशकालादि का भी विचार करना चाहिए क्योंकि देश कालादि के भेद से रोगादि में भी भेद हो जाता है। तथा औषधि प्रयोग में भेद होता है। अतएव चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व ही सब बातों का विचार करना चाहिए। वर्तमान समय में प्रायः विचार नहीं किया जाता। इसी कारण रोग दूर नहीं होता है।

जैसे संसार में प्रसिद्ध ज्वर रोग है। उस ज्वर रोग से पीड़ित चार रोगी किसी अनुभवी वैद्य के समीप अपने रोग निवृत्ति के लिये जांय तो वह चतुर वैद्य सब बातों का विचार करके रोग एक होने पर भी औषधि भिन्न भिन्न देगा। यदि वैद्य अनुभवी नहीं है। तो बिना विचार किये एक ही औषधि चारों रोगियों को देगा। उससे सबको लाभ नहीं हो सकता। जैसा कि वर्तमान समय में प्रायः देखा जाता है कि बिना विचार किये ही अधिकांश वैद्य तथा डाक्टर रोगियों को औषधि देते हैं। जिससे लाभ के स्थान में हानि ही अधिक होती है।

इसी प्रकार संसार रूपी रोग की निवृत्ति के लिए मनुष्य यदि किसी अनुभवी धर्मोपदेशक के समीप जाता है तो वह विचार करके उसके अधिकार के अनुसार धर्मोपदेश करता है। यदि

धर्मोपदेशक अनुभवी नहीं है तो मनमानी उपदेश करता है।

वर्तमान समय में उपदेशकों की कमी नहीं किन्तु परीक्षा करके उपदेश देने वाले विरले ही मिलते हैं।

आज का मनुष्य किं कर्तव्य विमूढ़ हो रहा है। क्योंकि अनेक प्रकार के उपदेशक हैं। सभी सुख शान्ति का मार्ग बतलाते हैं। किन्तु सब के मार्ग भिन्न भिन्न हैं। स्वयं विचार करने की शक्ति है नहीं। मनुष्य किसी न किसी के प्रभाव से प्रभावित होकर कार्य करने लगता है। कार्य करने के अनन्तर जब शान्ति नहीं मिलती है तब दुःखी होता है।

अतएव जो मनुष्य स्वयं सुख शान्ति चाहता है अथवा अन्य को सुख शान्ति का मार्ग बतलाता है। उसका परम कर्तव्य है कि प्रथम देश कालादि का विचार करके अपने या दूसरे के मार्ग का निर्णय करे नहीं तो देश कालादि प्रकृति विरुद्ध कर्म करने से प्रकृति-क्षुभित होकर भयंकर उपद्रव उत्पन्न कर देगीं। वह मानव सुख शान्ति से बहुत दूर चला जायगा।

अतएव सनातन वैदिक सिद्धान्त से मानव प्रकृति के अनुसार चार विभाग समाज का किया है। जैसा कि गीता में श्री भगवान् कहते हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ १८-४१

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण भिन्न २ हैं।

और यह भी कहा है—चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः। गुण और कर्म के विभाग से चारों वर्णों को मैंने बनाया है।

वेद में भी है। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् इत्यादि।

स्मृतियां भी उसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं।

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखवाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निर्वर्तयेत् ॥ मनु १-३१

लोकों की वृद्धि के लिए मुख वाहू ऊरू और पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को बनाया।

श्रीमद्भागवत पुराण में भी ऐसा लिखा है।

विप्रक्षत्रियविटशूद्रमुखवाहूरुपादजः।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचार लक्षणाः ॥ ११-१७-१३

इसी प्रकार अन्य श्रुति स्मृति तथा पुराणों में विस्तार से इसका प्रतिपादन है मानव समाज का चार प्रकार का विभाग किसी न किसी रूप से समस्त संसार में है। यदि यह विभाग शास्त्र के आधार पर होता है तो व्यवस्था ठीक रहती है जब शास्त्र का आधार त्याग दिया जाता है तब विभाग अव्यवस्थित हो जाता है।

शास्त्र के अनुसार जिसकी सात्विक प्रकृति है। वह ब्राह्मण कहा जाता है। क्योंकि सत्वगुण प्रकाशक होता है। उसमें शांति आदि गुण होते हैं। मनुष्य की प्रकृति जन्म से ही सात्विक आदि होती है। क्योंकि माता पिता की जैसी प्रकृति होती है। वैसी ही प्रकृति सन्तान की भी होती है। यदि कहीं माता पिता से भिन्न प्रकृति सन्तान की प्रतीत हो तो जानना चाहिये कि सन्तान की उत्पत्ति शास्त्र विधि से नहीं हुई है। अथवा सांकार्य्य हो गया है। शास्त्रों में सन्तान उत्पत्ति की विधि विस्तार से वर्णित है। गर्भाधान नाम का एक संस्कार ही है। वर्तमान समय में गर्भाधान की विधि से सन्तान नहीं उत्पन्न की जाती है। किन्तु केवल विषयोपभोग के लिए स्त्री पुरुष का संसर्ग होता है। सन्तान तो अकस्मात हो जाती है। शास्त्र का विधान है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही

स्त्री पुरुष का सङ्ग होना चाहिए। वह भी उत्तम से उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के विचार से हो। जैसा विचार रहन सहन आदि माता पिता के होते हैं। उन सब का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। प्राचीन समय में शुद्ध विचार के द्वारा शास्त्र विधि के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते थे। तभी ब्राह्मण की सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय की क्षत्रिय, वैश्य की वैश्य, शूद्र की शूद्र ही होती थी।

क्षत्रिय में रजोगुण अधिक होता है। रजोगुण का कार्य चञ्चलता है। क्रिया आदि उत्पन्न करना, वैश्य में रज के साथ तम भी रहता है। इसी कारण स्थिरता रहती है। शूद्र में तम अधिक होता है। तम का स्वभाव है स्थिर रहना। इन्हीं गुणों के अनुसार ही उनके कर्मों का विभाग है। जैसा कि गीता में कहा है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्ययं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ १८-४२

मन की शान्ति को शम कहते हैं। वाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं शीत उष्णादि द्वन्द्वों के सहन को तप कहते हैं। अन्य के अपराध को सह लेना सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रतिकार न करना शान्ति कहलाती है सरल स्वभाव को आर्जव कहते हैं। संसार के समस्त पदार्थों के सामान्य ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। परमात्म ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। वेद शास्त्र में विश्वास होने को आस्तिक्य कहते हैं। यह ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है। यदि किसी कारण से यह न हो तो इनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए यदि ब्राह्मण में उपरोक्त बातें हो तो वह कभी दुःखी हो ही नहीं सकता। स्वयं सुखी रहता है औरों को भी सुखी करता है।

ब्राह्मण के लिये षट कर्मों का विधान है।

अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानाम कल्पयत ॥ मनु०।

पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना-यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना।

इनमें प्रथम तीन मुख्य धर्म हैं। उनका परित्याग आपत्काल में भी नहीं करना चाहिए। तीन जीविका है।

अर्थात् ब्राह्मण अध्यापन करके जीवन निर्वाह करै। वह भी वेतन रूप से नहीं किन्तु दक्षिणा के रूप में विद्यार्थी विद्याध्ययन के अनन्तर अपनी प्रसन्नता से जो कुछ दे दे। यदि इससे जीवन निर्वाह न होता हो तो यज्ञ में यजमान के द्वारा दक्षिणा प्राप्ति कर जीवन निर्वाह करै। यदि इससे भी जीवन निर्वाह न होता हो तब प्रतिग्रह के द्वारा जीवन निर्वाह करै।

प्रतिग्रह से तेज नष्ट हो जाता है। अतएव जहाँ तक हो सके इसका परित्याग करै। सबसे उत्तम वृत्ति जीवन निर्वाह के लिये ब्राह्मण की शिलोञ्छ है। किसान जब खेत को काट लेता है। उसके अनन्तर खेत में जो इधर उधर गेहूँ आदि की बालियां पड़ी रहती है। उन्हीं का नाम शिला है उनको इकट्ठा करके अपना जीवन स्वतन्त्रता पूर्वक निर्वाह करै। बाजारों में जो अन्न के दाने पड़े रहते हैं उनके ग्रहण को उञ्छ कहते हैं। उससे अपना जीवन निर्वाह करै।

श्रीमद्भागवत में इस विषय का बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त सुखायच ॥ ११-१७-४२

शिलोञ्छ वृत्त्या परितुष्ट चित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्नाति प्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ।।
११-१७-४३

ब्राह्मण का यह शरीर संसार के क्षुद्र विषय भोग के लिये नहीं है। किन्तु कष्ट और तप के लिए। तथा शरीर छूटने पर अनन्त सुख के लिए है।

शिलोञ्छ वृति से सन्तुष्ट चित्त ब्राह्मण रजोगुण रहित महान् धर्म का सेवन करता हुआ। हमारे में आत्मसमर्पण करने वाला, आसक्ति से रहित गृह में ही रहता हुआ परमशान्ति को प्राप्त करता है।

यदि उपरोक्त किसी भी प्रकार से जीवन निर्वाह न होता हो तो ब्राह्मण क्षत्रिय की जीविका से जीवन निर्वाह करै। यदि उससे भी जीवन निर्वाह न होता हो तो वैश्य की जीविका से जीवन निर्वाह करै। यह आपद्धर्म है। और भी उल्लेख है।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेनवा ।
सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथञ्चन ।। भा० ७-११-१८

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।
मृतं तु नित्य याच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।। ७-११-१९

सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीच सेवनम् ।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सितम् ।। ७-११-२०

ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्यानृत से जीवन निर्वाह करै कुत्ते की वृत्ति से कभी भी जीवन निर्वाह न करै।

उञ्छ और शिलावृत्ति को ऋत कहते हैं। बिना मांगे जो

मिल जाय उसको अमृत कहते हैं। नित्य माँगना मृत वृत्ति है। खेती करना प्रमृत वृत्ति कही जाती है व्यापार करना सत्यानृतवृत्ति है। नीच पुरुषों की सेवा करके जीवन निर्वाह को कुत्ते की वृत्ति कहते हैं। इस अन्तिम वृत्ति को ब्राह्मण और क्षत्रिय को सदा परित्याग करना चाहिये। क्योंकि यह अतिनिन्दित वृत्ति है। मनु० ४-४-५-६ में ऐसा ही लिखा है।

अध्ययन यजन दान का परित्याग द्विजाति को आपत्ति के समय में भी नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है वेदाध्ययन करना इस बात का कथन मानस में भी है। तुलसीदासी
सोचिय विप्र जो वेद विहीना, तजि निज धर्म विषय लव लीना॥

क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म इस प्रकार है।

शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ १८-४३ गीता

शत्रु पर विजय प्राप्त करने को शौर्य्य कहते हैं। जिस प्रभाव से शत्रु भयभीत हो जाय उसको तेज कहते हैं। तत्काल-कार्य करने की योग्यता को दाक्ष्य कहते हैं। और युद्ध में भागना नहीं। बिना प्रत्युपकार की इच्छा से अन्य को धनादि देना दान कहलाता है। शासन करने की शक्ति को ईश्वर भाव कहते हैं। यह सब क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है।

मनुस्मृति में क्षत्रिय धर्म का विधान है। यथा—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १-८९ मनुः

प्रजा की रक्षा दान यजन अध्ययन और विषय में आशक्ति से रहित होना यह संक्षेप में क्षत्रिय के लिये विधान है।

इसमें अध्ययन यजन दान ब्राह्मण की तरह सदा कर्तव्य है।

प्रजा की रक्षा करके अपने जीवन का निर्वाह करना चाहिए। यदि कदाचित् प्रजा रक्षण से जीवन निर्वाह न होता हो तो वैश्य की वृत्ति से जीवन निर्वाह कर सकता है। जैसा कि कहा है।

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः।
सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु॥

कृषि शिल्प भृति (नौकरी) विद्या (वेतन लेकर अध्यापन करना) शकट (गाड़ी को भाड़े पर चलाना) गिरि (पर्वत पर स्थित वृक्षादि के द्वारा जीवन निर्वाह करना) अपने से बड़े की सेवा करके जीवन निर्वाह करना। राजा का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करना। आपत्ति के समय भिक्षा वृत्ति से भी जीवन निर्वाह करना।

मनु भी ऐसा ही कहते हैं।

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषि।
गिरिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन हेतवः॥

अभिप्राय यह कि प्राण की रक्षा किसी भी प्रकार से कर सकता है। मुख्य धर्म तो प्रजा की रक्षा करके ही जीवन निर्वाह करना है। मानस में भी कहा है।

सोचिय नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना॥

वैश्य का स्वाभाविक धर्म यह है।

कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।

कृषि गौ की रक्षा करना व्यापार करना वैश्य का स्वभाविक धर्म है। अध्ययन यजन दान वैश्य को भी सदा करना चाहिए।

जैसा कि मनु जी कहते हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच ।
वाणिक्यथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेवच ॥

पशुओं का रक्षण दान यजन अध्ययन व्यापार व्याज लेना कृषि करना । आपत्ति के समय वैश्य शूद्र का कर्म भी कर सकता है जैसा कि मनु जी कहते हैं ।

वैश्योऽजीवन स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्य्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥

वैश्य स्वधर्म से यदि जीवन निर्वाह न कर सकता हो तो शूद्र की वृत्ति से जीवन निर्वाह करे । किन्तु उच्छिष्ट भोजन आदि न करे । जब सामर्थ्य हो जाय तब शूद्र वृत्ति का परित्याग कर दे ।

मानस में लिखा है ।

सोचिय वैश्य कृपण धनवानू ।
जो न अतिथि शिव भक्त सुजानू ॥

शूद्र का स्वाभाविक धर्म यह है ।

परि चर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।

तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक धर्म है । मनु जी भी कहते हैं ।

एकमेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

परमात्मा ने शूद्र के लिए एक ही कर्म बतलाया है कि असूया का परित्याग करके इन वर्णों की सेवा करना ।

शूद्र भी आपत्ति के समय कारुक के कर्म से जीवन निर्वाह करै । जैसा कि मनु जी कहते हैं ।

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययंप्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करने में असमर्थ शूद्र स्त्री पुत्रादि के दुःखी होने पर करुक के कर्म से जीवन निर्वाह करे ।

कारुक कर्म अनेक प्रकार के शिल्प को कहते हैं। जैसे गृह निर्माण करना चित्रकारी चटाई आदि बनाना। मुख्य धर्म तो सेवा करना ही है।

सोचिय शूद्र जो विप्र अपमानी ।
मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी ।।

ब्रह्मचारि धर्म

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहकर उसके धर्म का पालन करें।

नित्यंस्नात्वा शुचिः कुर्य्यादेवर्षि पितृ तर्पणम् ।
देवर्ष्यर्चनं चैव समिदाधानमेवच ।। मनु० २-१७६ ।

ब्रह्मचारी नित्य प्रातः स्नान करके देव-ऋषि-पितृ का तर्पण करै। और देवता का पूजन तथा सायं प्रातः समिधा से होम करे।

वर्जयेद् मधुमासं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्लानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।
मनु० २ । ११७

मधु और मांस को त्याग दे, कपूर, चन्दन, कस्तूरी आदि के गन्ध को त्याग दे। पुष्पकी माला को न धारण करे। गुड़ आदि

रसों का सेवन न करै। स्त्रियों का संग न करे सिरका आदि को न खाय। प्राणियों की हिंसा न करे।

अभ्यंगमञ्जनं, चाक्ष्णोरूपानच्छत्रधारणम्। (च)
कामं क्रोधं, लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥ २-१७८ मनुः

तैल आदि का शरीर में मर्दन न करे। आँख में काजल आदि न लगावै। जूता छाता को न धारण करे। काम, क्रोध, लोभ नाचना गाना त्याग दे।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ २-१७९ मनु.

जुआ खेलना, मनुष्यों के साथ वृथा वाद करना, अन्य के दोष को कथन करना, असत्य भाषण करना, स्त्री का दर्शन, स्पर्शन अनुराग से न करे। किसी का अपकार न करे।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयेन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः २-१८० मनुः

सदा अकेला ही शयन करे। इच्छा पूर्वक वीर्य का पात न करे। यदि इच्छा से वीर्य का पात करता है। तो प्रायश्चित करना चाहिए।

स्वप्नेसिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चित्वा पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ २-१८१ मनुः

यदि ब्रह्मचारी अनिच्छा से स्वप्न में वीर्यपात करता है। तो स्नान के अनन्तर सूर्य्य का पूजन करके पुनर्मामैत्विन्द्रियम् इस ऋचा का तीन बार जप करे।

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत।
ब्राह्मणेषुचरेद्भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये॥ २-२९ या०

दण्ड, अजिन, मेखला, यज्ञोपवीत को धारण करै। निन्दित कर्म से रहित अपनी वृत्ति के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाले ब्राह्मणों के यहां भिक्षा अपने निर्वाह के लिये माँगे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी का धर्म श्रुति स्मृति और पुराणों में विस्तार से वर्णन किया गया है। वर्तमान समय में इस आश्रम की व्यवस्था की उपेक्षा हो गई है। इसी कारण आज के शिक्षित समाज में अनेक प्रकार के दोष आगये हैं। विषयों में फँसते चले जा रहे हैं। प्राचीन समय की व्यवस्था के अनुसार विद्यार्थी तथा अध्यापक विषय विमुख होकर केवल विद्या में अनुराग करते थे। इसीसे उनका जीवन सात्विक होता था। उनको जूते, छाते, तैल, साबुन आदि को आवश्यकता नहीं होती थी। थोड़ी सी जीविका से अपना जीवन निर्वाह कर लेते थे। विद्यार्थी भिक्षा माँग कर लाता था। गुरु को अर्पण करता था। गुरु की आज्ञा से भोजन करता था। और गुरु भी उसीसे निर्वाह करते थे। तृण या पत्ते के मकान बना लेते थे। अथवा मिट्टी लकड़ी के मकान बनाते थे। जिस देश काल में जो वस्तु सुलभ थी उसीसे अपना निर्वाह करते थे। किसी के परतन्त्र नहीं रहते थे। क्योंकि उनको धन की आवश्यकता नहीं थी। आज समस्त विश्व में बिना धन के किसी का भी कार्य नहीं चलता। शिक्षा के लिए भी प्रथम धन को आवश्यकता होती है। शिक्षालय राजमहलों के समान बनाये जाते हैं। शिक्षकों के लिए भी राज-भवन चाहिये। जहाँ प्राचीन समय का कुलपति पर्णकुटी में निवास करता था। पृथ्वी पर शयन करता था पैदल यात्रा करता था तैल आदि का सेवन नहीं करता था। वहाँ आज का कुलपति राजभवन में रहता है। मोटरों पर चलता है। पलंग पर सोता है। इसी कारण उसको धन की आवश्यकता होती है। धन की आवश्यकता से ही परतन्त्र होना पड़ता है। धीरे २ शिक्षा राज्याधिकारियों के

अधीन होती जा रही है। इसी कारण जो मत राज्याधिकारियों का होता है उसी के प्रचार के लिए प्रयत्न किया जाता है। शिक्षकों को वेतन कम मिलता है। शिक्षार्थियों का शिक्षा शुल्क पुस्तक मूल्य बढ़ता ही जा रहा है। अतएव निर्धन मनुष्य अपने बच्चों को शिक्षा देने में असमर्थ है। सभी स्थानों में संघर्ष बढ़ रहा। गुरु शिष्य का भाव नष्ट हो रहा है। शिक्षार्थी तथा शिक्षक विषयोपभोग की कामना से दीन हो रहे हैं। संसार में हाहाकार मचा हुआ है। कहीं भी शान्ति नहीं। यदि मनुष्य शान्ति को चाहता है तो प्राचीन समय के अनुसार शिक्षा ग्रहण करे। तथा ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करै। नही तो सोचने योग्य होगा। जैसा कि मानस में लिखा है।

सोचिय वटु निज व्रत परिहरई।
जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारि धर्म

उपरोक्त प्रकार से ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहकर साङ्गवेद का अध्ययन यथाशक्ति करके यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा न हो तो गुरुकुल में ही रहकर गुरू की सेवा जीवन पर्य्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर करै। जैसा कहा है कि:—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्य्य सन्निधौ।
तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा। या० २-४९
अनेनविधिना देहं साधयन्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेह जायते पुनः॥या० २-५०॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्य्यन्त आचार्य्य के समीप रहे। साङ्ग वेदाध्ययन के अनन्तर स्वतन्त्र न हो। आचार्य के अभाव में उसके पुत्र के समीप रहे। पुत्र के अभाव में आचार्य्य की भार्य्या के समीप रहे। आचार्य्य भार्य्या के अभाव में स्व उपास्य अग्नि के समीप रहे। इस प्रकार जीवन व्यतीत करता हुआ, अच्छी प्रकार से इन्द्रियों को वश में करने वाला ब्रह्मचारी अमृतत्व को प्राप्त होता है। पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता है। मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २४३–२४४–२४५ में भी यही भाव है। तथा अन्य स्मृतिकार भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं। किन्तु वर्तमान समय में सन्यासियों के शिष्यों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। तथा कुछ गृहस्थाश्रम परित्याग के अनन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनते हैं यह शास्त्र विरुद्ध है। ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में रहने वाले विद्वान ब्राह्मण का ही शिष्य होता है। चाहे वह नैष्ठिक हो या उपकुर्वाण हो।

उपकुर्वाण धर्म

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा वाले को उपकुर्वाण कहते हैं। मनुजी कहते हैं—

न पूर्वं गुरवे किंचित उपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत॥मनु० २-२४५

स्नान से पूर्व गुरु को कुछ धनादि न देवै। गुरु की आज्ञा से स्नान करके यथाशक्ति गुरु को धन गौ आदि देवै। उसको कहते हैं।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत॥मनु० २-२४६॥

तु अवलुप्ते ॥

क्षेत्र, सुवर्ण, गौ, अश्व, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक, वस्त्र इनमें से कोई भी वस्तु गुरु को देकर प्रसन्न करै। गुरु के न रहने पर गुरु परिवार को देवै। जैसा कि कहा है—

आचार्य्ये तुरवलुप्रे ते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत ॥ मनु० २-२४७॥

आचार्य की मृत्यु होने पर गुण युक्त आचार्य पुत्र आचार्य्य स्त्री या आचार्य के सपिण्ड में गुरु के समान व्यवहार करे।

इस प्रकार गुरु की आज्ञा से स्नान करके सवर्ण कन्या से विवाह करे। जैसा कि कहा है।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तौ यथा विधिः।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ मनु० ३-४

गुरु की आज्ञा से स्नान करके शास्त्र विधि के अनुसार समावर्तन संस्कार होने के अनन्तर द्विज लक्षण युक्त समान वर्ण की कन्या से विवाह करे। शास्त्रों में स्त्री पुरुष के लक्षण विस्तार से कहे हैं। उन लक्षणों का विचार करके तथा अपने वर्ण की कन्या से ही विवाह करे। यदि शास्त्र के अनुसार विचार कर वर कन्या का विवाह होता है तो दोनों सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। नहीं तो वैवाहिक आनन्द का अभाव ही रहता है। अतएव माता पिता का परम कर्तव्य है कि अच्छी रीति से विचार कर जैसा स्वभाव वर का है। वैसा ही कन्या का हो तो विवाह करें। नहीं तो न करें। वर्तमान समय में अनमेल विवाह होता है। माता पिता केवल धन के लोभ से विवाह करते हैं। इसी कारण विवाह के उपरान्त अधिकांश स्त्री पुरुष दुःखी रहते हैं। अथवा सम्बन्ध विच्छेद की आवश्यकता होती है। जिन जातियों में सम्बन्ध विच्छेद का विधान नहीं है। उनमें कन्या पिता के गृह

में या किसी सम्बन्धी के गृह में या किसी अन्य पुरुष के साथ भाग कर अपना जीवन विताती हैं। यदि विवेक पूर्वक विवाह हो तो उपरोक्त दोष आने की संभावना नहीं रहती है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी लिखा है।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यांस्त्रियमुद्वहेत।
अनन्य पूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्॥

इस श्लोक में शुभ लक्षण युक्त कन्या से विवाह करने का विधान है।

मनु आदि स्मृतियों में लक्षण बतलाये गये हैं उन लक्षणों को देखकर करना चाहिए ऐसे ही वर की भी परीक्षा करनी चाहिए।

प्राचीन समय में विवाह में धन की अधिक आवश्यकता नहीं होती थी इसी कारण ठीक विवाह होता था आजकल धन के लोभ से विवाह करते हैं। इसी कारण विचार नहीं करते हैं।

विवाह समान वर्ण में ही होना चाहिये। क्योंकि सवर्णेतर में विवाह करने पर जो सन्तान होगी वह वर्णसंकर होगी। जहाँ कहीं सवर्ण से अतिरिक्त कन्याग्रहण का विधान है। वह कामनावश होने पर किन्तु उसकी प्रशंसा नहीं है।

जैसा कि मनु का वचन है।

हीन जातिं स्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानि शूद्रवत्॥

जो द्विजातिहीन जाति की स्त्री के साथ मोह से विवाह करते हैं उनके सन्तान के सहित कुल शूद्र के समान हो जाते हैं।

वर्णसंकर सृष्टि उत्तम नहीं होती है। मनुस्मृति के १० अध्याय में विस्तार से वर्णसंकरों का वर्णन है।

अब स्त्री के धर्म का वर्णन करते हैं। विवाह होने के अनन्तर स्त्री इस धर्म का पालन करै।

पतिं च या नाभिचरति मनोवाकदेहसंयता।
साभर्तृ लोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥
मनु० ६-२६

जो स्त्री मन वाणी शरीर को वश करके पति से विमुख नहीं होती है। सदा पति की सेवा करती रहती है। वह पति के साथ उत्तम लोकों को प्राप्त करती है। इस लोक में सज्जन लोक उसको साध्वी कहते हैं।

स्त्रीणां पति देवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रत धारणम्॥ भा० ७-११-२५
संमार्जनोपलेपाभ्याम् गृहमण्डल वर्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्ट परिच्छदा॥ भा० ७-११-२६
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम्॥
भा० ७-११-२७

सन्तुष्टाऽलोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रिय सत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥ भा० ७-११-२८

या पतिं हरि भावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्य्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥ भा० ७-११-२६

स्त्री अपने पति को देवता मानकर सेवा करै। पति के अनुकूल कार्य करै। पति के बन्धुओं की यथा योग्य सेवा करै। नित्य

उस व्रत का धारण करै। गृह को नित्य मार्जन आदि से शुद्ध राखे। मण्डल आदि का निर्माण करै। स्वयं आभूषण आदि से शोभित रहे। गृह की सभी वस्तु शुद्ध हो। सर्व प्रकार के काम से जितेन्द्रियता से सत्य प्रिय वचन से प्रेम से समय समय पर पति की सेवा करै। सदा सन्तुष्ट रहे। लोलपता का परित्याग करै। कार्य करने में कुशल धर्म को जानने वाली प्रिय सत्य वचन बोलने वाली प्रमाद से रहित पवित्र स्त्री अपतित पति की सेवा करै। जो स्त्री पति में विष्णु भावना से लक्ष्मी के समान तत्पर होकर सेवा करती है। वह विष्णु लोक में विष्णु रूपपति की सेवा लक्ष्मी के समान करती है।

गृहस्थ धर्म

इष्ट पूर्तदत्त नामक तीन प्रकार का धर्म गृहस्थ का है। जैसा कि कहा है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्य देवं च इष्टमित्यभिधीयते॥

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदरक्षण, अतिथि सत्कार वैश्य देव इष्ट कहे जाते हैं।

वापीकूपतडागादि देवताऽऽयतनानिच।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

वापी, कूप, तालाब आदि देवताओं का मन्दिर अन्नदान बाटिका लगाना पूर्त कर्म है।

शरणागत संत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्।
वहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते॥

शरण आये की रक्षा प्राणियों की अहिंसा वेदिवाह्य दान को दत्त कहते हैं गृहस्थ अन्य के अन्न में रुचि न करै। जैसा कि कहा है।

पर पाकरुचिर्नस्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।
वाक् पाणिपाद चापल्यं वर्जयेच्चाति भोजनम् ॥
भा० ५-११२

अनिन्दित निमन्त्रण के बिना पर पाक रुचि न हो। वाणी पाणिपाद की चंचलता का परित्याग कर दे। गृहस्थाश्रम में रहकर भी उसमें आसक्त न हो। जितने से अपना उदर पूर्ण हो। उतने ही में अपना स्वत्व माने। जैसा कि कहा है।

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योभिमन्येत सस्तेनो दण्डमर्हति ॥ भा० ७-१४-८

जितने अन्न से उदर की पूर्ति हो उतने में ही प्राणिमात्र का अधिकार है। जो अधिक अपना मानता है। वह चोर है। और दण्ड के योग्य है।

गृहस्थ को विघसाशी और अमृताशी होना चाहिए। जैसा कि कहा है—

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ।
देवताअतिथिविप्रेभ्यो पितृभ्यः स्वजनायच ॥
ये चावशिष्टमश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिन: । महाभारत ।

सायं और प्रात:काल अपने कुटुम्ब में यथाविधि अन्न का विभाग करके देवता अतिथि ब्राह्मण पितृ और स्वजन को यथा-योग्य विभाग करके जो शेष भोजन करते हैं। उनको बिघसाशी कहा जाता है।

यज्ञ शेष का भोजन करने वाला अमृताशी कहा जाता है। जैसा कि श्रीभगवद्गीता में कहा है।

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्ति ब्रह्म सनातनम् । गीता ४-३१

यज्ञशिष्ट अमृत का भोजन करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संक्षेप में गृहस्थ धर्म को कहा। यदि गृहस्थ अपने धर्म का पालन करे तो सभी आश्रम वाले धर्मात्मा हो सकते हैं क्योंकि गृहस्थ से ही सब आश्रम वाले उत्पन्न होते हैं। अतएव गृहस्थ सर्व आश्रमों से श्रेष्ठ कहा गया है उसको धर्म अर्थ काम का संपादन करने के लिये शास्त्र की आज्ञा है। जो गृहस्थ अपने कर्म का परित्याग करता है। वह सोचने योग्य है। जैसा कि मानस में कहा है। सोचिय गृही जो मोहवस, करे धर्म पथ त्याग।

वान प्रस्थ धर्म

गृहस्थाश्रम के अनन्तर वान प्रस्थाश्रम में जाय। जैसा कि मनु जी कहते हैं।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत ॥ मनु ६-२

गृहस्थ जिस समय त्वचा में सिकुड़न, केश का श्वेत होना और पुत्र के पुत्र को देख ले उस समय विषय के राग का परित्याग करके वन का आश्रय ले क्योंकि वृद्धावस्था में घर के लोग भी नहीं चाहते कि वृद्ध घर में रहे। प्रायः ऐसा ही देखा जाता है। इस कारण ऐसी अवस्था में गृह का त्याग ही उत्तम है। जो लोग वृद्ध होने पर भी गृह त्याग नहीं करते उनको अनेक

प्रकार के कष्ट प्राप्त होते हैं। किन्तु अविवेक त्यागने में बाधक होता है। मनुष्य सोचता है कि यदि मैं गृह का परित्याग कर दूँगा तो गृह नष्ट हो जायगा। क्योंकि पुत्र अभी गृह कार्य करने में कुशल नहीं है। किन्तु यह विचार नहीं करता कि जब मैं मृत्यु के मुख में जाऊँगा तब कौन गृह रक्षा करेगा। जो गृह का त्याग नहीं करते हैं और अनेक प्रकार के ब्याज से गृह में ही रहना चाहते हैं। उनके पुत्र आदि विरोधी बन जाते हैं। कहीं कहीं तो विष आदि के द्वारा मारण का प्रयोग भी कर देते हैं इस कारण वृद्धावस्था में वृद्ध पुरुषों का परम कर्तव्य यही है कि अपने कार्य भार से अवकाश ग्रहण करलें। नवयुवकों को समय दें। तो नवयुवक विरोधी न बनकर सहयोगी बन जायँगे हमारे यहाँ शास्त्रों का सिद्धान्त अति उत्तम है। उसका पालन न करने से ही मनुष्य दुःखी होता है वन में अकेला जाय अथवा स्त्री को भी साथ ले जाय। यदि स्त्री की इच्छा न हो तो उसको पुत्र के समीप छोड़ दे। वन में जाकर वन्य पदार्थ से ही जीवन निर्वाह करे। जैसा कि मनु जी कहते हैं।

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ मनु ६–३ ॥
वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ मनु ६-६

ग्राम में उत्पन्न होने वाले आहार का परित्याग करके और सब गृह की सामग्री का परित्याग करके भार्या को पुत्र के समीप छोड़कर अथवा साथ लेकर वन में जाय। मृग चर्म को धारण करे।

अथवा फटे पुराने वस्त्र को धारण करे या वल्कल को धारण करे। जटा लोम नखकेश दाढ़ी मूँछ को नित्य धारण करे। सायं प्रातः स्नान करे। वन की ही वस्तुओं से वलि पूजन भिक्षा आदि दे। नित्य स्वाध्याय करता रहे। समस्त वैदिक कर्मों को करे।

ग्रीष्मे पञ्च तपास्तुस्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासस्तु हेमन्ते क्रमशोवर्धयंस्तपः ॥ मनु ६–२३

ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि का सेवन करे। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में बैठकर वर्षा का सेवन करे। हेमन्त ऋतु में गीले वस्त्र को धारण करे।

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छैर्वा वर्तयेत् सदा।
पक्षे गते चाप्यश्नीयान्मासे वाऽहनिवागते।

चान्द्रायण व्रत व कृछ् व्रत सदा करता रहे। पन्द्रह दिन बीत जाने पर भोजन करे अथवा एक मास बीत जाने पर भोजन करे।

इस प्रकार अनेक प्रकार के तप करने का विधान वान प्रस्थाश्रम में रहने वाले के लिये है। मनु आदि स्मृतियों में विस्तार से वर्णन किया गया है। वन में रहकर जो विषयी होता है वह सोचनीय है। जैसा कि मानस में लिखा है।

वैखानस सोइ सोचन योगू।
तप विहाय जेहि भावै योगू॥

सन्यासाश्रम में जाने का अधिकारी। सन्यासाश्रम में ब्रह्मचर्य्य गृहस्थवानप्रस्थाश्रम से जाने का विधान है। जैसा कि जावाल श्रुति में प्रतिपादन किया है।

राग न रह जाय तब सन्यासाश्रम में प्रवेश करै। इसी कारण आश्रम से आश्रम में जाने का मनु का वचन है—

आश्रमादाश्रमं गत्वाहुतहोमो जितेन्द्रियः
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते।

जो जितेन्द्रिय है और होम कर लिया है तथा भिक्षा और बलि देने से थक गया है वह आश्रम से आश्रम में जाकर सन्यास करता हुआ शरीर त्याग के अनन्तर मोक्ष को प्राप्त करता है। अतएव—

ऋणानि त्रीण्यापकृत्यमनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ ६-३५ मनु

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः। इस श्रुति के अनुसार ब्राह्मण उत्पन्न होता ही तीन ऋण वाला होता है। यज्ञ करके देव ऋण से पुत्र उत्पन्न करके पितृ ऋण से स्वाध्याय करके ऋषि ऋण से मुक्त होकर मोक्ष में मन लगावे। यदि बिना ऋण दूर किये सन्यासाश्रम में जाने की इच्छा करता है तो नीचे गिर जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि सांसारिक विषय तथा विषय प्रापक कर्मों से वैराग्य नहीं हुआ। आपात वैराग्य से बिना ऋणों को दूर किये सन्यासाश्रम में चले गये तो उस आश्रम में धर्म का पालन नहीं हो सकता। पुनः गृहस्थ के धर्म यज्ञादि करने की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि वर्तमान समय में होरहा है।

इस कारण जब तक तीव्रतर वैराग्य न हो तब तक सन्यासाश्रम में नहीं जाना चाहिए। जैसा कि सन्यासोपनिषद में कहा गया है।

चत्वारिंशत संस्कारसंपन्नः सर्वतोविरक्तश्चित्तशुद्धि मेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वासाधनचतुष्टयसम्पन्न एव सन्यसितुमर्हति । २-१

४० संस्कार से सम्पन्न सब विषयों से विरक्त चित्त शुद्धि प्राप्त आशा ईर्ष्या असूया अहंकार को भस्म करके साधन चतुष्टय सन्पन्न ही सन्यास करने के योग्य है मैत्रेय उपनिषद् का वचन है—

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव सन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत । २-१६

जिस समय सर्व वस्तुओं में मन से वैराग्य हो जाय उसी समय में ही विद्वान सन्यास करै । अन्यथा करने पर पतित हो जायगा ।

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।
सन्यसेदुभयभ्रष्टः समुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥ मै० २-२०

द्रव्य अन्न वस्त्र और प्रतिष्ठा के लिये जो सन्यास करता है वह उभय भ्रष्ट हुआ मुक्ति के योग्य नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रम का परित्याग करके कर्म करना त्याग दिया । सन्यास धर्म का पालन भी नहीं करता । ऐसा व्यक्ति न गृहस्थ रहा न सन्यासी हुआ । दोनों से पतित होगया अतएव मुक्ति भी नहीं मिली । क्योंकि मुक्ति की योग्यता नहीं ।

इसी प्रकार वृहदारण्यकोप निषद् का वचन है ।

तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्चवित्तैषणायाश्च ।
लोकैषणायाश्चव्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ।

उस आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्र धन लोक की इच्छा का

परित्याग करके सन्यासाश्रम में आकर भिक्षा से जीवन निर्वाह करते हैं।

नारद परिव्राज कोपनिषद् का वचन है।

यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा सन्यासमिच्छेत् पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥ २–१२

जिस समय मन में सब वस्तुओं की तृष्णा न उत्पन्न हो। उस समय सन्यास करने की इच्छा करै। नहीं तो पतित हो जायगा।

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तुगृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः २–१३ ॥

विरक्त विद्वान् सन्यासाश्रम में जाय। सरक्त गृहस्थाश्रम में ही रहे। राग सहित सन्यास करता हुआ द्विजाधम नरक में जाता है।

सबका अभिप्राय यह है कि जिस को तीव्र वैराग्य हो। वही सन्यासाश्रम में जाने का अधिकारी है। जैसा कि जीवन्मुक्ति विवेक नामक ग्रन्थ में लिखा है।

वैराग का भेद

मन्द, तीव्र, तीव्रतर, ये वैराग्य के तीन भेद हैं। मन्द वैराग्य का लक्षण यह है।

पुत्रदारादिनाशे या च तात्कालकीमतिः।
धिक्संसारमितीहक्स्याद्विरक्तेर्मन्दताहिसा ॥

पुत्र स्त्री धन आदि के नाश होने पर उस समय संसार धिक है ऐसी जो बुद्धि होती है। यही वैराग्य की मन्दता है।

पुन: कहा है कि—

विरक्तिर्द्विविधाप्रोक्ता तीव्रा तीव्र तरेति च।
सत्यामेव तीव्रायांन्यसेद्योगी कुटी चके।
शक्तो वहूदके तीव्रतरायां हंस संज्ञिते।
मुमुक्षुः परमेहंसे साक्षाद्विज्ञान साधने॥

विरक्ति दो प्रकार की है तीव्र और तीव्रतर तीव्र विरक्ति होने पर भी यदि भ्रमण करने की शक्ति नहीं है। तो कुटीचक नामक सन्यास करै। यदि सामर्थ्य है तो वहूदक नामक सन्यास करे। तीव्रतर वैराग्य होने पर यदि ब्रह्मलोक की कामना है तो हंस नामक सन्यास करे यदि इसी लोक में मोक्ष की इच्छा है तो साक्षात् विज्ञान का साधन परमहंस नामक सन्यास करै कुटीचक वहूदक हंस परमहंस रूप सन्यास के भेद का वर्णन आगे करेंगे।

तीव्र वैराग्य का लक्षण कहते हैं।

अस्मिन् जन्मनि माभूवन पुत्र दारादयो मम।
इति या सुस्थिरा बुद्धिःसा वैराग्यस्य तीव्रता।

इस जन्म में पुत्र स्त्री आदि मेरे न हों इस प्रकार की जो सुस्थिर बुद्धि है यह वैराग्य की तीव्रता है। इस वैराग्य में भी वित्तादि का नाश ही हेतु है। किन्तु यह वैराग्य क्षणिक नहीं होता। इस जन्म में स्थिर रहता है। किन्तु अन्य जन्म में पुत्र वित्तादि की आशा से तप आदि में प्रवृत्ति होती है। यदि सत्संग मिल गया तो उपासना में प्रवृत्त होकर ब्रह्मलोक की कामना से सब वस्तुओं की आशा को त्याग देता है। यदि उपासना करते करते

अन्तःकरण शुद्ध हो गया। कुछ न्यून कामना रही तो ब्रह्मलोक के सुख भोग कर वहीं मुक्त हो जाता है। यदि इस लोक के भोग की कुछ वासना शेष रही तो पुनः जन्म ग्रहण करता है।

तीव्रतर वैराग्य का लक्षण—

पुनरावृत्ति सहितो लोको में मास्तु कश्चन।
इति तीव्र तरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपिहि॥

पुनर्जन्म के सहित मुझको किसी लोक की प्राप्ति न हो। इस प्रकार का जो वैराग्य है। उसको तीव्रतर कहते हैं। मन्द वैराग्य में किसी भी प्रकार का सन्यास नहीं होता। इसी वैराग्य को योग दर्शन में पर और अपर भेद से दो प्रकार का कहा है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
यो० १—१५

स्त्री, अन्न, पान, आधिपत्य, इस लोक के दृष्ट विषय हैं इनमें तृष्णा का अभाव होना वशीकार नामक वैराग्य है। इस वशीकार की तीन प्रकार की पूर्व अवस्था है यथा—यतमान—व्यतिरेक—एकेन्द्रिय। राग नाश के लिये चेष्टा करना यतमान अवस्था है। किन विषयों में वैराग्य सिद्ध हुआ किन में साध्य है। जिसमें व्यतिरेक रूप निश्चय किया जाता है। उसको व्यतिरेक अवस्था कहते हैं। उसके अनन्तर मनमें उत्सुकता मात्र से क्षीण हुआ राग स्थित रहता है। उस राग का भी जब नाश हो जाता है। तब वशीकार वैराग्य सिद्ध होता है। स्वर्ग वैदेहय प्रकृतिलयत्व वेद से सुने हुए विषय में तृष्णा ना होना दिव्यादिव्य विषय के प्राप्त होने पर भी विवेक बल से ग्रहण त्याग से रहित बुद्धि होना वशीकार संज्ञा वैराग्य है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १—१६

देखे तथा सुने हुये विषय में दोष देखने वाला विरक्त, पुरुष के दर्शन के अभ्यास से शुद्ध विवेक की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई बुद्धि, व्यक्त अव्यक्त धर्म वाले गुणों से विरक्त होता है। अर्थात कृत्य कृत्य होता है। उसको पर वैराग्य कहते हैं।

मानस में भी वर्णन है—

तृण सम सिद्धि तीन गुण त्यागी,
कहिय तात सो परम विरागी।

जब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक पूर्ण वैराग्य नहीं होता परमात्म साक्षात्कार होने पर वैराग्य होता है। इस प्रकार का वैराग्य जिसको हो वही सन्यास का अधिकारी है। अब सन्यासी के भेद को कहते हैं।

नारद परिव्राजकोपनिषद में ६ प्रकार के सन्यासी का बर्णन है। यथा—

कुटीचको वहूदको हंसः परमहंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्च।

१ कुटीचक २ वहूदक ३ हंस ४ परमहंस ५ तुरीयातीत ६ अवधूत।

हारीत स्मृति में चार प्रकार के सन्यासी कहे हैं यथा—

चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रोक्ता सामान्यलिङ्गिनः।
तेषां पृथक् पृथक् ज्ञानं वृत्ति भेदात्कृतं च तत्॥
कुटीचरो वहूदको हंसश्चैव तृतीयकः।
चतुर्थः परमोहंसो योगः पश्चात्स उत्तमः॥

पितामह ने भी कहा है—

चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रख्याता ब्रह्मणो मुखात्।

कुटीचरो वहूदको हंसश्चैव तृतीयकः ।
चतुर्थः परहंसश्च संज्ञाभेदैः प्रकीर्तितः ॥

अब सब की वृत्ति का वर्णन करते हैं ।

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीतीदण्ड कमण्डलुधरः
कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः
पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपरः,
एकान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारीत्रिदण्डः ।

कुटीचक्र सन्यासी शिखा यज्ञोपवीत दण्ड कमण्डलु कौपीन कन्था धारण करता है । माता पिता गुरु की आराधना करता है । पिठर खनित्र शिक्य आदि को रखता है । मन्त्र का आराधन करता है । एक का अन्न खाता है । श्वेत उर्ध्व पुण्ड्र धारण करता है । और तीन दण्ड धारण करता है ।

वृद्ध पाराशर ने भी कहा है—

कुटीचरो नाम पुत्रादिभिः कुटीं कारयित्वा काम क्रोध लोभमोहमदमात्सर्य्यादीन् हित्वा विधिवत्सन्न्यासं कृत्वा त्रिदण्डजलपवित्रकाषायवस्त्रधारिणः शौचाचमन जपस्वाध्यायब्रह्मचर्य्यध्यानतत्पराः पुत्रादेरेव भिक्षाकालेऽन्नयात्रामात्रमुपभुञ्जानास्तस्यां कुट्यां नित्यं वसन्त आत्मानं मोचयन्ति।

स्कन्द पुराण में भी कहा है—

कुटी चरस्तु सन्न्यस्य स्वे स्वे सद्मनि नित्यशः ।
भिक्षामादाय भुञ्जीत स्वबन्धूनां गृहेऽथवा ।
शिखी यज्ञोपवीती स्यात् त्रिदण्डी स कमण्डलुः ॥

बौधायन ने भी कहा है—

कुटीचरा: परिब्रज्य स्वे स्वे वेश्मनि नित्यश: ।
भिक्षां बन्धुभ्य आदाय भुञ्जते शक्ति संक्षयात ॥

अभिप्राय यह है कि जिसके शरीर की शक्ति क्षीण हो गई हो वह सन्यास करके अपने पुत्र के द्वारा कुटी बनवाकर ग्राम के समीप में रहे और पुत्र से ही भिक्षा लेकर जीवन निर्वाह करे। पुत्र न हो तो अपने बन्धुओं से भिक्षा ग्रहण करे। किन्तु काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि का सदा त्याग कर दे। वर्तमान समय में सामर्थ्यवान् हृष्ट पुष्ट शरीर वाले शिष्यों से धन लेकर कुटी बनाकर निवास करते हैं। और अपने को कुटीचक कहते हैं काम क्रोधादि भी नहीं छोड़ते छल कपट धोखे से अन्य के स्थान पर अधिकार करते हैं कुटी के लिये न्यायालय में जाते हैं। ऐसे लोग किसी भी प्रकार के सन्यासी नहीं हैं।

अब वहूदक का वर्णन करते हैं।

वहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारीकुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्यष्टकवलाशी ।

वहूदक कुटीचक्र के समान शिखा यज्ञोपवीत आदि और कन्था को धारण करता है त्रिपुण्ड्रधारी होता है। मधुकर वृत्ति से अष्ट ग्रास भोजन करता है।

वृद्ध पराशर भी कहते हैं।

तत्र वहूदक नाम त्रिदण्डकमण्डलु पवित्रपात्रकाषायवस्त्र-धारिणो वेदान्तार्थविवोधकाः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणगृहेषु भैक्षचर्य्यां चरन्त आत्मानं मोचयन्ति ।

स्कन्द में भी कहा है।

वहूदकस्तु सन्न्यस्य वन्धु पुत्रादि वर्जितः ।

सप्तागारं चरेद्भैक्षमेकान्नं च परित्यजेत् ।
गोवालरज्जुसंवन्धं त्रिदण्डं शिक्यमुद्धृतम् ॥
जलपात्रं पवित्रं च खनित्रं च कृपाणिकाम् ।
शिखां यज्ञोपवीतं च देवताराधनं चरेत ॥

पितामह ने भी कहा है ।

वहूदकः स विज्ञेयः सर्वसङ्गविवर्जितः ।
वन्धुवर्गेन, भिक्षेत स्वभूमौ नैव संवसेत् ॥
निश्चलः स्थाणुभूतश्च सदा मोक्षपरायणः ।
न कुर्व्यां नोदके सङ्गं कुर्य्याद्वस्त्रे च चेतसा ॥
नागारे नासने नान्ने नास्तरे नत्रिदण्ड के ।
स्वमात्रायां न कुर्य्याद्वै रागं दण्डादिके यतिः ॥

अभिप्राय यह कि वहूदक एक स्थान में न रहे किसी भी वस्तु में राग न करे सदा धारणा ध्यान में लगा रहे भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करे ।

अब हंस नामक सन्यास को कहते हैं सो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंकल्प्त माधुकरान्नाशी कौपीन खण्ड तुण्डधारी ।

हंस जटा त्रिपुण्ड्र ऊर्ध्वपुण्ड्र फटे पुराने वस्त्र के टुकड़े की कौपीन धारण करता है बिना संकल्प के मधुकर अन्न का भोजन करता है ।

स्कन्द पुराण में भी लिखा है ।

हंसः कमण्डलु शिक्यं भिक्षा पात्रं तथैव च ।
कन्थां कौपीनमाच्छाद्यमंगवस्त्रं वहिः पटम् ॥

एकन्तु वैणवं दण्डं धारयेन्नित्यमादरात् ।
देवतानामभेदेन कुर्य्याद्ध्यानं समर्च्चयेत् ॥

विष्णु भी कहते हैं ।

यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम् ।
तावान्परिग्रहःप्रोक्तो नान्यो हंसपरिग्रहः ॥

पितामह भी कहते हैं—

हंसस्तृतीयो विज्ञेयोभिक्षुर्मोक्षपरायणः ।
नित्यंत्रिषवणस्नायी त्वाद्रवासा भवेत्सदा ॥
चान्द्रायणेनवर्तेत यतिधर्मानुशासनात् ।
वृक्षमूलेवसेन्नित्यं गुहायांवा सरित्तटे ॥

वौधायन ने भी कहा—

हंसाः कमण्डलु शिक्यं दन्डपात्राणि बिभ्रतः ।
ग्रामतीर्थैकरात्राश्च नगरे पञ्चरात्रकाः ॥
त्रिषड्रात्रोपवासाश्च पक्ष मासोपवासिनः ।
कृच्छ्र सान्तपनाद्यैश्च यज्ञैः कृशवपुर्धराः ॥

भावार्थ यह है कि हंस सन्यासी कमण्डलु शिक्य भिक्षापात्र कन्था कौपीन अङ्गढांकने का वस्त्र एक वेणु का दण्ड धारण करता है । देवता का ध्यान पूजन करता है । यज्ञोपवीत दण्ड जन्तु निवारण के लिये वस्त्र का परिग्रह करने का विधान है । अन्य का नहीं ॥

नित्य त्रिकाल स्नान करे । गीला वस्त्र धारण करे । यति धर्म के अनुसार चान्द्रायण करे । वृक्ष मूल या गुफा या नदी के तट

पर निवास करे। ग्राम में एक रात्रि नगर में पाँच रात्रि नवास करे। तीन दिन या ६ दिन या १५ या ३० तीन का उपवास करे। कृच्छ्र सान्तपन आदि व्रत रूपी यज्ञ से शरीर को कृश करे।

अब परम हंस के धर्म को कहते हैं—

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रादनपरः करपात्री एक कौपीन धारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेक शाटीधरोवा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी।

नारद परिव्राजकोपनिषद्।

परमहंस शिखा यज्ञोपवीत रहित पांच घर की भिक्षा मांगकर एक रात्रि में भोजन करता है। करपात्री एक कौपीन एक चद्दर एक वेणु का दण्ड धारण करता है। अथवा एक ही चद्दर धारण करता है। भस्मधारी होता है तथा सब का त्याग करता है।

अब तुरीयातीत का वर्णन करते हैं।

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी।

तुरीयातीत गोमुख फलाहारी होता है।

अन्नाहारी चेत् गृहेत्रये मात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः।

यदि अन्नाहार करता है तो तीन घर से, देह मात्र जिसके शेष है। दिशा ही वस्त्र है। शरीर को मुर्दे के समान समझता है।

अब अवधूत का वर्णन करते हैं—

अवधूत स्तनियमो अभिशस्तपतितवर्जनपूर्वक-सर्ववर्णेष्वजगरवृत्याहारपरः। स्वरूपानुसंधानपरः।

नारद परिव्राजकोपनिषद्।

अवधूत का कोई नियम नहीं होता है । किन्तु अभिशस्त पतित को त्याग कर सब वर्णों का अन्न अजगर वृत्ति से ग्रहण करता है। स्वरूप के अनुसन्धान में तत्पर रहता है परमहंस तुरीयातीत और अवधूत में विशेष भेद नहीं है । अतएव अब परमहंस सन्यास का ही वर्णन विस्तार से करेंगे। उस परमहंस सन्यास के दो भेद हैं। विविदिषा और विद्वत। जैसा कि कहा है–

जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति परहंसो द्विधामतः ॥

जिज्ञासु तथा ज्ञानवान् भेद से परमहंस दो प्रकार के होते हैं। ब्रह्म के जानने की इच्छा से जो सन्यास करते हैं वे जिज्ञासु कहे जाते हैं। ब्रह्मज्ञान के अनन्तर जो सन्यास करते हैं वे विद्वत् सन्यासी कहे जाते हैं। विविदिषा सन्यास भी दो प्रकार का है। जन्म को देने वाला काम्यकर्म तथा उसके साधन धनादि का अनादरपूर्वक नित्य नैमित्तिक श्रौत्रस्मार्त कर्मों को भगवदाज्ञा परिपालन बुद्धि से करता हुआ ब्रह्मवि चार में प्रवृत्त होता है वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी सन्यासी ही है । दूसरा प्रेषमन्त्र का उच्चारण करके दण्डादि लिंग को धारण करता हुआ सन्यासाश्रम को स्वीकार करता है किन्तु दण्डादि धारण रूप सन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण को ही है जैसा कि श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। यथा—

ब्राह्मणा प्रव्रजन्ति, ब्राह्मणाः पुत्रैषणा या इत्यादि श्रुतियों में ब्राह्मण का ही ग्रहण है। मनुस्मृति में भी कहा है कि ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति गृहात्। तथा उपसंहार में भी कहा है कि एषवोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्यचतुर्विधः।

ब्राह्मण सन्यास लेते हैं। ब्राह्मण पुत्रादि की इच्छा त्याग कर भिक्षा मांगते हैं। ब्राह्मण गृह से प्रव्रजन करते हैं। यह चार प्रकार का धर्म ब्राह्मणों का कहा है। नारद भी कहते हैं—

प्रथमादाश्रमाद्वापि विरक्तोभवसागरात् ।
ब्राह्मणो मोक्षमन्विच्छंस्त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥

योगि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमा श्रुतिचोदिताः ।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ताद्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥

वामन पुराण में भी है—

चत्वार आश्रमाश्चैते ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः ।
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च वानप्रस्थं त्रयोऽऽश्रमाः ॥
क्षत्रियस्यापि कथिता य आचारादि द्विजस्यहि ।
ब्रह्मचर्य्यं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः ॥
गार्हस्थमुचितन्त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥

देवल तथा दत्तात्रेय का भी वचन है—

मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्ग धारणम् ।
वाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते ।
गतिस्तुर्य्याश्रमे नास्ति वाहुजोरुजयोः क्वचित ॥

इत्यादि स्मृतियों में सन्याश्रम में जाने का विधान ब्राह्मण के ही लिये है। क्षत्रिय के लिए वानप्रस्थ तक का विधान है। वैश्य के लिए गृहस्थ तक का विधान है। शूद्र का कोई आश्रम नहीं है। किन्तु उसको गृहस्थ में ही रहना चाहिए।

कुछ स्मृति वचनों में क्षत्रिय आदि के लिए भी सन्यास का विधान है। तथा श्रुति स्मृति में आये हुए ब्राह्मण शब्द को उपलक्षण मानकर कुछ टीकाकार तीनों वर्णों के सन्यास का विधान

बतलाते हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन आत्मपुराण–सिद्धान्त-लेश–तथा श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में वंशाधरी टीका में किया गया है। मधुसूदनी टीका गीता में भी विचार है। किन्तु सबका तात्पर्य यह है कि लिङ्ग धारण पूर्वक विधि से सन्यास ग्रहण का अधिकार ब्राह्मण को है। वह भी तीव्रतर वैराग्य होने पर। बिना तीव्रतर वैराग्य हुए किसी को सन्यास का अधिकार नहीं। जब तक क्षत्रियों का राज्य था तब तक आश्रम व्यवस्था ठीक चलती थी। क्षत्रियों के राज्यहीन होने पर आश्रमों की व्यवस्था ठीक रही नहीं। अतएव सन्यसाश्रम में भी मनमानी होने लगी। अनेक प्रकार के मत चल पड़े सभी को सब में अधिकार दे दिया गया। किन्तु उसके धर्म का पालन करना भी त्याग दिया गया। नाम मात्र के सन्यासी कहाते हैं। गृहस्थों से भी अधिक प्रपञ्च में पड़े रहते हैं। यदि तीव्रतर वैराग्य किसी क्षत्रिय आदि को होता था तो वह वीर सन्यास लेता था। सीधे उत्तराखण्ड को चला जाता था। अथवा अलिङ्ग सन्यास लेता था। अर्थात् किसी भी प्रकार का वेष नहीं बनाता था। अलिंग सन्यास का वर्णन आगे करेंगे। अलिंग सन्यास की कोई विधि नहीं है।

अब विद्वत सन्यास का वर्णन करते हैं।

श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वारा जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो गया हो वह जीवन्मुक्ति के सुख प्राप्ति के लिए सन्यास करै। जैसा कि याज्ञवल्क्य आदिकों ने किया था। यह विद्वत्सन्यास सलिङ्ग तथा अलिङ्ग भेद से दो प्रकार का है। दण्ड कषायादि धारण करना सलिङ्ग है। और कोई भी लिङ्ग न धारण करना अलिङ्ग है। अलिङ्ग सन्यास ही मुख्य है लिङ्ग तो सांसारिक लोगों के कल्याण के लिये धारण किया जाता है। विविदिषु के लिंग सन्यास के समान ही विद्वान भी लिङ्ग धारण करता है भेद केवल इतना ही है कि विविदिषु सन्यास ग्रहण के

अनन्तर गुरु के समीप जाता है। वहाँ श्रवण मनन निदिध्यासन करता है। जैसा कि कहा है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

ब्राह्मण कर्म से संपादित लोकों की परीक्षा करके वैराग्य को प्राप्त हो कि ब्रह्म की प्राप्ति कर्म से नहीं होती। अतएव उसके जानने के लिये श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरु के समीप जाय। वहाँ पर जाकर ब्रह्म का ही विचार करे। धनादि का संग्रह न करे। केवल भिक्षा मात्र से जीवन निर्वाह करे।

अब सलिङ्ग सन्यास का धर्म कहते हैं॥ जैसा कि मनु का बचन है।

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

सर्वस्मि

कपाल का पात्र वृक्ष मूल में निवास कुचैल धारण सहायता से रहित होना सब में सम बुद्धि करना यही मुक्त का लक्षण है।

अत्रि का वचन है।

कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीत निवारणीम्।
पादु के चापि गृह्णीयान्नान्यस्य संग्रहम्।
यदि वा कुरुते रागाढधिकस्य परिग्रहम्॥
नरकं रौरवं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते।
कौपीनं युगलं कन्थां दण्ड एक परिग्रहः॥
यतेः परम हंसस्य नाधिकं तु विधीयते।

विशीर्णान्यमलान्येव चैलानि ग्रथितानितु ॥
कृत्वा कन्थां वहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम् ॥

कौपीनाच्छादन वस्त्र, शीत निवारिका कन्था और पादुका को ग्रहण करे। किन्तु अधिक का संग्रह न करे यदि राग से अधिक का संग्रह करता है तो रौरव नामक नरक में जाकर पुनः तिर्यग योनि में जाता है। दो कौपीन कन्था एक दण्ड का परिग्रह परमहंस यति के लिये है। अधिक का विधान नहीं। फटे निर्मल वस्त्र की सिली हुई कन्था बनाकर बाहर का वस्त्र गेरूआरंग से रंग कर धारण करे।

नारद परि व्राज कोपनिषद में भी लिखा है।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य सम्यश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ३–४५

सहायता से रहित अकेला ही सिद्धि के लिये नित्य प्रयत्न करे। एक की सिद्धि को देखता हुआ न किसी को त्यागता है। न किसी से त्यागा जाता है।

एको भिक्षु यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामा समाख्याता ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ ३–५६
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्यवते यतिः ॥ ३–५७
राजवार्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्य्यं सन्निकर्षान्न संशयः ॥ ३–५८

उत्तम शास्त्र प्रतिपादित भिक्षु एक है। दो होने से मिथुन कहा जाता है। तीन भिक्षु साथ रहने से ग्राम कहा जाता है। तीन से

अधिक होने पर नगर हो जाता है। अतएव नगर, ग्राम, मिथुन नहीं करना चाहिये। यदि कोई इन तीनों को करता है। तो वह स्वधर्म से पतित हो जाता है। क्योंकि सन्यासी का मुख्य धर्म है ब्रह्मविचार करना। इसको न करके आपस में भिक्षा की वार्ता होने लगती है। तथा राज सम्बन्धी वार्ता होने लगती है। अथवा और गृहस्थ सम्बन्धी वार्ता प्रारम्भ हो जाती हैं। यदि साथी गुणवान हुए तो स्नेह हो जाता है यदि गुण रहित हुए तो पिशुनता आ जाती है। तथा गुणोत्कर्ष को देखकर मात्सर्य्य होने लगता है।

याज्ञवल्क्य का वचन है—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यम् सायाह्नेऽनभिलक्षितः।
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रामलोलुपः॥

प्रमाद रहित अलक्षित तृतीय प्रहर में भिक्षु रहित ग्राम में शरीर निर्वाह मात्र के लिए भिक्षा करै। इन्द्रियों की तृप्ति के लिये नहीं।

मनु का भी वचन है—

एककालं चरेद्भैक्ष्यम् न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्ष्यप्रसक्तो हियतिर्विषयेष्वपि सज्जते॥

एक समय भिक्षा करै अधिक भिक्षा में आसक्ति न करै। भिक्षा में आसक्त हुआ विषय में भी आसक्त हो जाता है।

और भी कहा है—

अलाभी न विषादी स्याद् लाभे चैव न हर्षयेत्
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रा सङ्गाद्विनिर्गतः॥

भिक्षा के [illegible]भ होने पर विषाद न करै। लाभ होने पर

हर्ष न करै। प्राण रक्षा मात्र के लिये भिक्षा करै। विषय के संग से मुक्त रहे।

इस प्रकार सभी श्रुति स्मृतियों में भिक्षा माँगने का विधान है।

यति का पात्र तैजस नहीं होता जैसा कि मनु जी कहते हैं।

अतैजसानिपात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानिच।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥
अलावुं दारु पात्रं वा मृन्मयं वैणवं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

छिद्र से रहित अतैजस यति के पात्र हों। उन की शुद्धि यज्ञ के चमस के समान जल से ही होती है। लौकी, काष्ठ-मृत्तिका वेणु के बने पात्र यति को रखना चाहिये। सोना चांदी या अन्य धातु के बने पात्र को सन्यासी त्याग दे जैसा कि यम का वचन है॥

हिरण्यमयानि पात्राणि कृष्णायसमयानि च॥
यतीनां तान्यपात्राणि वर्जयेत्तानि भिक्षुकः॥

वौधायन का वचन है कि आपत्ति के समय में भी धातु के पात्र में भोजन न करै। यथा—

आपद्यपि न कांस्येतुमलाशी कांस्यभोजनः॥
सौवर्णे राजते ताम्रमये व त्रपुसीसयोः॥

और भी मनु कहते हैं—

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्॥
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृत को यथा॥

न जीने में प्रसन्न हो न मरण में किन्तु जैसे सेवक स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। ऐसे ही काल की प्रतीक्षा करै ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥
नचेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥

अन्य की कठोर वाणी का सहन करै। किसी का अपमान न करै। इस शरीर के कारण किसी से वैर न करै ॥

सन्यासी के लिये ६ वन्धन करने वाले हैं। उनको कहते हैं ॥

आसनं पात्रलोपश्च सञ्चयः शिष्यसंग्रहः।
दिवास्वापो वृथा जल्पो यतेर्बन्धकराणिषट् ॥

१—आसन २—पात्र लोप ३—सञ्चय ४—शिष्य संग्रह ५—दिवास्वाप ६—वृथा जल्प

एकाहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात्परतो पुरे ॥
वर्षाभ्योऽन्यत्र तत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ॥

एक दिन से अधिक ग्राम में पांच दिन से अधिक नगर में वर्षा ऋतु के बिना जो स्थित होना है। उसको आसन कहते हैं।

उक्तानां यतिपात्राणामेकस्यापि न संग्रहः ॥
भिक्षोर्भैक्षभुजश्चापि पात्रलोपः स उच्यते ॥

शास्त्र में कहे हुए जो सन्यासी के पात्र हैं यदि उनमें से एक का भी संग्रह नहीं है और भिक्षु अन्य पात्र में भिक्षा भोजन करता है। उसको पात्र लोप कहते हैं।

गृहीतस्य त्रिदण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥
कालान्तरोपभोगार्थं सञ्चयः परिकीर्तितः ॥

शास्त्र विधान के अनुसार ग्रहण किये हुये दण्ड कमण्डलु आदि

से जो अन्य का संग्रह करना है। कालान्तर में भोग के लिये उसको सञ्चय कहते हैं।

शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः।
शिष्याणां न तु कारुण्यात् सस्नेहः शिष्य संग्रहः॥

सेवा, लाभ, पूजा, यश की इच्छा से जो शिष्यों का स्नेह के सहित संग्रह करना है किन्तु दया से नहीं उसको शिष्य संग्रह कहते हैं।

विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते।
विद्याभ्यासे प्रमादोयः स दिवास्वाप उच्यते॥

प्रकाश रूप होने से विद्या का नाम दिवा है और अविद्या का नाम रात्रि है। विद्या के अभ्यास में प्रमाद करने को दिवास्वाप कहते हैं।

अध्यात्मकीं कथां मुक्त्वा भैक्ष चर्चां सुरस्तुतिम्।
अनुग्रहप्रदप्रश्नो वृथा जल्पः स उच्यते॥

आत्म विचार की कथा को त्याग कर भिक्षा की चर्चा, देवताओं की स्तुति, अनुग्रह को देने वाला प्रश्न वृथा जल्प कहा जाता है। ६ बातों से यति मुक्त हो जाता है। वह इस प्रकार है।

अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो वधिरेव च।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥

१ अजिह्व, २ षण्ड, ३ पंगु, ४ अन्ध, ५ वधिर, ६ मुग्ध इन ६ से भिक्षु मुक्त हो जाता है। इसमें संशय नहीं।

इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥

यह मीठा है। या नहीं मीठा है। जो भोजन करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है। हितं सत्य और स्वल्प बोलता है। उसको अजिह्व (जिह्वा से रहित) कहते हैं।

सद्यो यातां यथा नारीं तथा षोडश वार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः सषण्डकः ॥

तत्काल उत्पन्न हुई स्त्री तथा षोडश (सोलह) १६ वर्ष की और शत वर्ष (सौ वर्ष) की स्त्री को देखकर जो विकार से रहित होता है उसको षण्ड (नपुंसक) कहते हैं।

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥

भिक्षा के लिये जिसका अटन होता है। और मल मूत्र त्यागने के लिये जाता है। चार कोस से अधिक नहीं चलता वह सर्वथा पङ्गु है।

तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगं भुवंत्यक्त्वा परिव्राट सोऽन्ध उच्यते ॥

चलता बैठता हुआ भी जिसका नेत्र १६ या १२ हस्त भूमि को त्याग कर दूर नहीं जाता वह सन्यासी अन्धा कहा जाता है।

हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं यतिः।
श्रुत्वा यो न शृणोतीव वधिरः स प्रकीर्तितः ॥

हित-अहित शोकदायक वचन को जो सन्यासी सुनकर भी नहीं सुनता है वह वधिर कहा जाता है।

सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो अविकलेन्द्रियः।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं सभिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥

जो विषय भोगने में समर्थ इन्द्रिय शक्ति से पूर्ण होता हुआ भी विषय के समीप में सुप्त के समान रहता है वह सन्यासी मुग्ध कहा जाता है।

अब अलिङ्ग सन्यास को कहते हैं।

एकबार नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि—

योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां कास्थितिः।

परमहंस योगियों का यह कौन मार्ग है। क्या स्थिति है। इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्माजी बोले।

योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न वाहुल्यो यद्यै को भवति सएव नित्यकूटस्थः स एव वेद पुरुष इति विदुषो मन्यन्ते॥ महापुरुषो यच्च चित्तं तत्सदा मय्येवात्र तिष्ठते तस्मादहं चैतस्मिन्नेवावस्थीयते॥

जो यह परमहंस मार्ग है वह लोक में अति दुर्लभ है। वह बहुत नहीं। यदि एक भी होता है वही नित्य कूटस्थ है। वही वेद पुरुष है। ऐसा विद्वान् मानते हैं। उस महापुरुष का जो चित्त है वह सदा मुझ में स्थित रहता है। तिस कारण मैं भी उसी में स्थित होता हूँ।

असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन शिखा यज्ञोपवीतं यागसत्रस्वाध्यायं च ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनंदण्डमाच्छादनं च स्वशरीरस्योपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत।

वह परमहंस सन्यासी अपने पुत्र मित्र कलत्र बन्धु आदि तथा यज्ञोपवीत याग सत्र स्वाध्याय और सब कर्मों का त्याग कर

ब्रह्माण्ड का त्याग कर कौपीनि दण्ड आच्छादन अपने शरीर की रक्षा के लिये। लोगों के उपकार के लिये ग्रहण करै।

तच्च न मुख्योऽस्ति कोयं मुख्यः, इति च यदयं मुख्यः। न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादं चरति परमहंसोनशीतं न चोष्णं न सुखं न दुखं न मानावमान इतिषडूर्मिवर्जितो न शब्दं न स्पर्शं न रूपं न रसं न गन्धं न च मनोऽप्येवं निन्दागर्व मत्सर दम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षाऽसूयाऽहङ्कारादींश्चहित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां योहेतुस्तेन नित्य निवृत्तस्तं नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितस्तं शांतमचलुमद्वयानन्दविज्ञान घन एवास्मि परमहंसोपनिषद् ॥

किन्तु वह मुख्य नहीं है। कौन मुख्य है। जो यह मुख्य है। न दण्ड न कमण्डलु न शिखा न यज्ञोपवीत न आच्छादन है। ऐसा परमहंस सर्दी गर्मी सुख दुख मान अपमान जन्म मृत्यु भूख प्यास शोक मोह रहित होकर विचरता है शब्द स्पर्श रूपरस गन्ध और मन को त्याग देता है।

निन्दा गर्व मत्सर दम्भ दर्प इच्छा द्वेष सुख दुःख काम क्रोध लोभ मोह हर्ष असूया अहंकार आदि का त्याग कर अपने शरीर को मुर्दे के समान देखता है। क्योंकि वह शरीर जो संशय विपर्य्यय मिथ्या ज्ञान का हेतु है। नष्ट हो गया। इस कारण उससे नित्य निवृत हुआ अपने शरीर में स्थित हुआ। अचल शान्त अद्वय आनन्दघन ही मैं हूँ ऐसा निश्चय करता है। अब विद्वत्सन्यास के विषय में प्रमाण कथन करते हैं।

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहा परं वैराग्यमाश्रितः ॥ अं०
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥

संसार को हीनिःसाररूप से देखकर सार देखने की इच्छा से बिना बिवाह किये पर वैराग्य का आश्रय लेकर ब्रह्मचर्याश्रम से ही सन्याश्रम में जाते हैं। कर्मयोग का लक्षण प्रवृत्ति है। सन्यास ज्ञान का लक्षण है। अतएव ज्ञान प्राप्त कर बुद्धिमान सन्यास करै।

यदा तु विदितं तत्स्यात्परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैक दण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत ॥
ज्ञात्वा सम्यक्परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिब्रजेत् ।

जिस समय सनातन परब्रह्म का ज्ञान हो जाय। उस समय एक दंड को ग्रहण करके यज्ञोपवीत सहित शिखा का परित्याग कर दे। परब्रह्म को सम्यक रूप से जानकर सबको त्यागकर परिव्राजक हो जाय। इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति विद्वत्सन्यास के विषय में प्रमाण है किन्तु जब तक दृढ़ ज्ञान न हो तब तक विद्वत्सन्यास न करै।

दृढ़ज्ञान का लक्षण श्रुति में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व सशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

उस परमात्मा के साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। सब संशय क्षीण हो जाते हैं। सब कर्म का नाश हो जाता है। दृढ़ ज्ञानी का लक्षण श्रीभगवद्गीता में स्थित प्रज्ञ-भक्त

गुणातीत नाम से वर्णन किया है। उसको यहाँ पर उद्धृत करते हैं। अर्जुन के प्रश्न करने पर श्रीभगवान् कहते हैं।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मनस्तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

जिस समय मन की समस्त कामना का परित्याग करता है। अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। उस समय जो समाधिस्थ है। उसको ही स्थित प्रज्ञ कहते हैं। जब तक निर्विकल्प समाधि में स्थित रहता है। तब तक किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती। आत्मरूप में स्थित हुआ परमानन्द में निमग्न रहता है। शरीर की वाह्य चेष्टा नहीं होती किन्तु ऐसे समय में उस समाहित व्यक्ति के मुखमण्डल पर प्रसन्नता झलकती रहती है। उसका जो कोई दर्शन करता है। वह भी आनन्द में डूब जाता है। वहाँ का वायुमण्डल ही आनन्दमय हो जाता है। अतएव वहाँ पर सुख शान्ति का राज्य होता है। इन्हीं लक्षणों से जाना जाता है कि वह ज्ञानी है।

अब समाधि से व्युत्थित हुआ जो ज्ञानी है उसका लक्षण कहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

समाधि से जब व्युत्थित होता है। तब वह क्या बोलता है। इसको कहते हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक यह तीन प्रकार का दुःख है। इन्हीं दुःखों से सारा संसार दुःखी है। शोक मोह आदि सूक्ष्म देह के दुःख ज्वर आदि स्थूल देह के दुःख आध्यात्मिक कहे जाते हैं। व्याघ्र सर्प आदि तथा सर्दी गर्मी आदि से जो दुख होता है वह आधिभौतिक कहा जाता है। अति वृष्टि

अनावृष्टि ग्रह भूत प्रेतादि से जो दुख होता है वह आधिदैविक कहा जाता है। यह सभी दुख प्रारब्ध का फल है। रजोगुण का विशेष परिणाम है। इन दुखों के प्राप्त होने पर इनके परिहार में असमर्थ होता हुआ भी जिसका मन व्याकुल नहीं होता। जो अज्ञानी होता है वह दुःख प्राप्त होने पर कहता है कि मैं बड़ा पापी हूँ। मुझको धिक्कार है। मेरे इस दुःख को कौन दूर करेगा। इस प्रकार अनेक प्रलाप करता हुआ व्याकुल होता है। यदि ऐसा विचार पाप करते समय होता। तब तो कुछ फल भी मिलता। दुःख प्राप्त होने पर यह निष्प्रयोजन है। ज्ञानी को किसी प्रकार का भी संताप नहीं होता। क्योंकि वह आत्मा को असङ्ग जानता है। आत्मा को कभी दुःख नहीं होता। इसी प्रकार सुख प्राप्त होने पर स्पृहा भी ज्ञानी को नहीं होती। क्योंकि जब सुख मिलता है। तब उसका अनुभव होता है। पुनः यह इच्छा होती है कि ऐसा ही सुख बार बार प्राप्त हो। इसके लिये पुण्य कर्म की अपेक्षा होती है। किन्तु ज्ञानी तो आत्मसुख को प्राप्त कर लेता है। जिससे बढ़-कर और कोई सुख नहीं। अतएव सांसारिक सुखों की इच्छा वह कभी नहीं करता। इसी कारण ज्ञानी को किसी भी पदार्थ में राग नहीं होता। क्योंकि जिस पदार्थ के भोग से सुख मिलता है। उसका संस्कार चित्त में संस्कृत हो जाता है। पुनः उसी की प्राप्ति की इच्छा होती है। इसी का नाम राग है। ज्ञानी को जब किसी वस्तु में राग नहीं तो भय भी नहीं होता। क्योंकि जिस वस्तु में राग होता है। यदि उसके नाश होने का समय उपस्थित हुआ और उसके बचाने की शक्ति नहीं है तब भय होता है। यदि शक्ति है तो क्रोध होता है। ज्ञानी में राग के अभाव से भय क्रोध का भी अभाव होता है। जिसमें राग, भय, क्रोध नहीं वही ज्ञानी है। उपरोक्त लक्षण वाला स्थित प्रज्ञ अपने अनुभव को प्रगट करता हुआ शिष्य को ऐसी वाणी सुनाता है जिससे अनुद्वेग अक्रोध

और निष्पृहता प्रतीत होती है। जिसको सुनकर शिष्य भी वैसा ही होने का प्रयत्न करता है। क्योंकि ज्ञानी के जो लक्षण होते हैं। वे ही साधक के साधन हैं। ज्ञानी में स्वभाव से रहते हैं। साधक को साधन करके उनको संपादन करना चाहिए।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभि नन्दति नद्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। गीता २-५७

जो सभी वस्तुओं में स्नेह रहित होता है। सुखदायक विषयों को प्राप्त कर प्रसन्न नहीं होता तथा दुःखदायक विषयों को प्राप्त कर द्वेष नहीं करता। अर्थात् सुखदायक पदार्थ के प्राप्त कराने वाले की प्रशंसा नहीं करता। तथा दुःखदायक पदार्थ की प्राप्ति कराने वाले की निन्दा नहीं करता है। ऐसा जो है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानिव सर्वशः ।।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २–५८

इस प्रकार पूर्व श्लोकों में समस्त तामस वृत्तियों का अभाव व्युत्थान दशा में कहा। अब समाहित पुरुष में वृत्तियों के ही अभाव का कथन करते हैं। जिस समय कच्छप के अङ्ग के समान इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से सर्व रूप से रोक लेता है अर्थात् किसी भी विषय की ओर इन्द्रियों की गति नहीं होती। उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। गी० २–५९

देहधारी के शब्दादि विषय परित्याग करने पर निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु राग की निवृत्ति नहीं होती। परमात्मदर्शन होने

पर राग भी निवृत्त हो जाता है। अतएव परमात्मदर्शन के लिये ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये। बिना परमात्मदर्शन के वलात् विषय त्यागने पर कदाचित् पुनः विषयों की ओर प्रवृत्ति होने की संभावना है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभंमनः ॥ २-६०

सम्यग्दर्शन रूपप्रज्ञा की स्थिरता की इच्छा करने वालों को प्रथम इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहिये। नहीं तो दोष उपस्थित होता है। क्योंकि हे कौन्तेय बार बार विषय दोष दर्शन रूप प्रयत्न करने वाले विवेकी पुरुष के भी क्षण मात्र के लिये निर्विकार किए हुए मन को इन्द्रियां विकृत कर देती हैं। क्योंकि इन्द्रियां अति प्रथमन शील हैं। अतएव विवेक शील रक्षक स्वामी के रहने पर भी वलात्कार से विवेकवती बुद्धि में प्रविष्ट हुए मन को विषयों में प्रवेश कर देती है। जैसे लोक में प्रमाथी चोर धनी धन रक्षक का तिरस्कार करके उसके सामने से ही धन चुरा लेता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अतएव उन सब इन्द्रियों को वश में करके समाहित हुआ व्यापार से रहित होकर बैठे। और मुझमें मन को लगाये रहै। अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करै। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियां वश में हैं। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

यदि इन्द्रियों को विषय विमुख नहीं किया जाता है। तो महा अनर्थ की प्राप्ति होती है इसको कहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुस: सङ्गस्तेषूपजायते ॥
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृति विभ्रम: ॥
स्मृति भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

विषय चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयों से सङ्ग होता है सङ्ग से इच्छा होती है। इच्छा से क्रोध होता है। क्रोध से संमोह होता है। संमोह से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नाश से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नाश से स्वयं नाश को प्राप्त होता है। अतएव विषय चिन्तन त्याग देना चाहिये।

रागद्वेषवियुक्तैस्तुविषयानिन्द्रियैश्चरन् ॥
आत्मव श्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति ॥

राग द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता हुआ मन को वश में करने वाला प्रसन्नता को प्राप्त करता।

प्रसादे सर्व दु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धि. पर्य्यवतिष्ठते ॥ २–६५

चित्त के निर्मल होने पर इसके सब दुखों की हानि होती है। प्रसन्न चित्त की बुद्धि शीघ्र प्रतिष्ठित होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ २–६६

असमाहित पुरुष की बुद्धि आत्मविषयक नहीं होती। तथा आत्मज्ञान में अभिनिवेश भी नहीं होता। बिना आत्मज्ञान में अभिनिवेश के शान्ति नहीं होती बिना शान्ति के सुख नहीं मिलता।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नामिवांभसि ।। २–६७

इन्द्रियों के चंचल होने पर उनके पीछे जो मन को ले जाता है। वह इसकी आत्मविषयक बुद्धि को नाश कर देता है। जैसे वायु नौका को जल में डुबा देता है।

तस्मायस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः ।। २–६८

तिस कारण हे महाबाहु जिसकी इन्द्रियां विषयों की ओर से सब प्रकार रोको गई हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। २–६९

सब प्राणियों की जो रात्रि है। उसमें संयमी जागता है। जिसमें सब प्राणी जागते हैं। वही विवेकी मुनि की रात्रि है। अर्थात् संसार के समस्त प्राणी विषयोपभोग को ओर प्रवृत्त होते हैं किन्तु विवेको सब विषयां का परित्याग करके परमात्म साक्षात्कार करता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे सशान्तिमाप्नोतिन कामकामी ।।
२–७०

चारों ओर से परिपूर्ण अचल समुद्र में जैसे नदियों का जल प्रवेश करता है। समुद्र उससे बढ़ता घटता नहीं। उसी प्रकार सब इच्छायें जिसमें प्रवेश कर जाती हैं। उसी को शान्ति मिलती है। कामना करने वाले को शान्ति नहीं मिलती है।

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरंहारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २–७१

जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता और अहंकार से रहित निस्पृह होकर विचरता है। वह शान्ति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् ने स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाया। इन श्लोकों का अर्थ प्रायः सभी भाष्यकार समान ही करते हैं। यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है। जिसमें उपरोक्त लक्षण हों वही स्थित प्रज्ञ है। केवल बात करने वाला नहीं।

अब भक्त का लक्षण बतलाते हैं। श्री भगवान अर्जुन से कहते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखक्षमी ॥ १२-१३
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्तः समेप्रियः ॥ १२–१४

जो सब भूतों में द्वेष नहीं करता है सबसे मैत्री की भावना करता है। दयालु है–ममता–अहंता (मेरा–मैं) से रहित है। सुख दुःख में सम रहता है। क्षमा करता है। सदा संतुष्ट रहता है। समाहित रहता है। शरीर इन्द्रिय मन आदि को वश में करता है। निश्चय में दृढ़ है। मन बुद्धि को मुझमें अर्पण किये है। ऐसा मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामषभयोद्वेगैर्मुक्तो यः समेप्रियः ॥

जिससे कोई लोग घबड़ाते नहीं जो किसी लोग से घबड़ाता नहीं। अर्थात् क्षोभ या संताप को नहीं प्राप्त होता। प्रिय वस्तु के

लाभ से अन्तकरण के उत्कर्ष को रोमाञ्च अश्रुपातादि चिन्ह के होने पर हर्ष कहा जाता है सहन शक्ति न होने को अमर्ष कहते हैं भय या घबड़ाहट किसी अनिष्ट होने की सम्भावना पर होता है। जो इन सब से मुक्त है वह मुझको प्रिय है। १२-१५

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारंभपरित्यागी योमद्भक्तः समेप्रियः॥ १२-१६

देह इन्द्रिय विषयादि के सम्बन्ध में भी निस्पृह रहने को अवपेक्ष कहते हैं। भीतर बाहर शुद्ध होने को शुचि कहते हैं। कार्य करने की तात्कालिक कुशलता को दक्षता कहते हैं किसी शत्रु मित्र के पक्ष को न लेने को उदासीन कहते हैं। और जो मृत्यु आदि के भय से रहित है। उसको गतव्यथ कहते हैं। जो इस तथा उस लोक की कामना से किसी भी कर्म का आरम्भ नहीं करता वह सर्वारम्भ परित्यागी है। ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है। १२-१६

यान हृष्यतिनद्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः समेप्रियः॥ ७६

जो इष्ट की प्राप्ति में हर्ष नहीं करता और अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता। प्रिय के वियोग होने पर शोक नहीं करता अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता शुभ और अशुभ कर्म त्याग करने वाला है। ऐसा भक्त मुझको प्रिय है। १२—१७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समःसङ्गविवर्जितः॥ १२-१८

शत्रु और मित्र में जो समान है तथा मान अपमान में

समान है। शीत उष्ण सुख दुःख में समान है सब संग से रहित है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान में प्रियोनरः ॥ १९

निन्दा स्तुति में समान है। वाणी का संयम करने वाला है। शरीर निर्वाह के लिये जो कुछ मिल गया उसी में संतोष करने वाला है। गृह से रहित है। स्थिर बुद्धि है ऐसा भक्त मुझको प्रिय है।

येतु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव में प्रियाः ॥

इस धर्मानुकूल अमृत का जो कोई यथाविधि सेवन करता है। श्रद्धा करता हुआ मुझमें तत्पर रहता है। वह मुझको सबसे अधिक प्रिय है।

जिसको आत्मबोध हो गया है। उसमें उपरोक्त गुण स्वभाव से ही रहते हैं। जैसा कि वार्तिक कारने कहा है।

उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य नतु साधन रूपिणः ॥ नैष्कर्म सिद्धिः

जिसको आत्म प्रबोध उत्पन्न हो गया है। उसमें अद्वेष्टत्वादि गुण बिना यत्न के होते हैं। साधन रूप से नहीं होते। जो साधक है। उसको इनकी प्राप्ति का साधन करना चाहिए। इन गुणों के होने पर ही ज्ञानी भक्त होता है।

गुणातीत का लक्षण चतुर्दश अध्याय में कहा है—यथा

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।

उदासीनवदासानोगुणैर्योनिविचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते । १४-२३
समदुःख सुखःस्वस्थःसमलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ।
मानापानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः सउच्यते ।१४-२५
मांच योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेनसेवते ।
सगुणान्समतीत्यै तान्ब्रह्मभूयाय कल्पते । १४-२६

सत्व रज तम के कार्य्य ज्ञानकर्म मोह के आने पर द्वेष नहीं करता चले जाने पर उनकी इच्छा नहीं करता। उदासीन के समान स्थित रहता है। गुणों के द्वारा जो चलायमान नहीं होता। गुण तो ऐसे ही आते जाते रहते हैं। गुणों के आने जाने पर जो अचल स्थित रहता है। किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता। सुख दुःख में समान रहता है अपने स्वरूप में स्थित रहता है । मिट्टी पत्थर सोना को समान देखता है। प्रिय अप्रिय की प्राप्ति में समान रहता है। आत्म निन्दा स्तुति में समान रहता है। धीरता धारण करता है। मान अपमान में समान रहता है। मित्र और शत्रु पक्ष में समान है। सभी कर्म का परित्याग करने वाला है। वह गुणातीत कहा जाता है। जो मुझको व्यभिचार रहित भक्ति से भजता है। वह इन गुणों का अति क्रमण करके ब्रह्म रूप हो जाता है। इस प्रकार गुणातीत का लक्षण तथा उसकी प्राप्ति का साधन बतलाया महाभारत शान्ति पर्व मोक्ष धर्म में तथा अन्य पुराणों में ज्ञानी तथा भक्त के लक्षण विस्तार से वर्णन किये गये हैं विस्तार भय से सबको नहीं लिख रहे हैं।

उपरोक्त लक्षण लक्षित विद्वान ही विद्वत्सन्यास लेने का अधिकारी है। वह वाह्य वेष कुछ नहीं बनाता अलिंग रहता है। कभी किसी तरह से रहता है कभी किसी तरह से रहता है अपने आपको प्रगट नहीं करता। जैसा कि स्मृति का वचन है।

यं न सन्तं न चासन्तंनश्रुतंनचाश्रुतम्
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेदकश्चित्सब्राह्मणः

जिसके वाह्य वेष को देखकर यह कोई निश्चय न कर सके कि यह सन्त है या असन्त है। वेद शास्त्र का अध्ययन किया है या नहीं किया है। आचरण अच्छा है या बुरा है।

तथाचरे द्वै योगी सतां धर्ममदूषयन्
यथा जनाऽवमन्येरन्गच्छेयुर्नैव संगतिम्

योगी सज्जनो के धर्म को दूषित न करता हुआ तैसा आचरण करे जिससे लोग अपमान करें और संग को न प्राप्त हों॥ और भी कहा है—

असन्मानात्तपोवृद्धिः सन्मानात्तपः क्षयः।
अर्चितः पूजितोविप्रोदुग्धागौरिव सीदति॥

अपमान से तप बढ़ता है। सन्मान से तप क्षीण होता है। अर्चित पूजित ब्राह्मण दूध दुही हुई गऊ के समान दुःखी होता है। इस प्रकार विविदिषा तथा विद्वत् सन्यास के सलिंग अलिंग रूप का वर्णन किया। सन्यास धर्म का वर्णन श्रुति स्मृति पुराणों में विस्तार से है। यहां तो संक्षेप वर्णन किया है।

उपरोक्त प्रकार से वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन संक्षेप से किया है। जिसको विस्तार से जानने की इच्छा हो वह श्रुति स्मृति पुराण इतिहास का अध्ययन करे। धर्मतत्व अति सूक्ष्म है।

बिना सूक्ष्म अध्ययन के उसका ज्ञान नहीं होता। अतएव अध्ययन के द्वारा जो मनुष्य धर्म को जानकर उसका आचरण करते हैं उन्हीं को साधु कहा जाता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के एकादशाध्याय में श्री भगवान ने उद्धवजी के प्रश्न के उत्तर में साधु का लक्षण कहा है। अब उसको लिखते हैं।

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः। २९
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहोमितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणोमुनिः ॥३०
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
११-११-३१

अज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयाऽदिष्टानपिस्वकान्।
धर्मान्संत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥
११-११-३२

ज्ञात्वाऽज्ञात्वाथ ये वै मांयावान् यश्चास्मियादृशः।
भजन्त्यनन्य भावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥११-११-३३

इसमें ३० लक्षण साधु का कहा है। १—अन्य के दुःख को देखकर जो सह नहीं सकता, किसी प्रकार उसके दूर करने का प्रयत्न करता है उसको कृपालु कहते हैं। २—किसी भी देहधारी से जो द्रोह नहीं करता है उसको अकृत द्रोह कहते हैं। ३—सामर्थ्य होने पर भी जो अन्य के अपराध का दण्ड नहीं देता क्षमा करता है उसको तितिक्षु कहते हैं। अथवा सर्व प्रकार के दुःखों का प्रति-

कार किये बिना सहन करने वाले को तितिक्षु कहते हैं। ४—जो सदा सत्य वचन कहता है वह सत्यसार है। ५—असूया काम क्रोध लोभ आदि दोषों से जो रहित है वह अनवद्यात्मा कहा जाता है। ६—जो सुख दुःख मानापमान आदि में समान रहता है उसको सम कहते हैं। ७—जो अपनी शक्ति के अनुसार सबका उपकार करता है उसको सर्वोपकारक कहते हैं। ८—सांसारिक विषय कामना से जिसकी बुद्धि में क्षोभ नहीं होता है वह अहत धी कहा जाता है। ९—जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसको दान्त कहते हैं। १०—जिसका चित्त कठोर नहीं होता है उसको मृदु कहते हैं। ११—जिसका आचरण पवित्र है उसको शुचि कहते हैं। १२—जिसके समीप किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है उसको अकिञ्चन कहते हैं। १३—जो इस लोक तथा परलोक के लिए किसी प्रकार का कर्म नहीं करता उसको अनीह कहते हैं। १४—जो अधिक भोजन नहीं करता है उसको मितभुक कहते हैं। १५—जिसका अन्तःकरण वश में है। उसको शान्त कहते हैं। १६—जो अपने धर्म में अचल रहता है उसको स्थिर कहते हैं। १७—जो मुझ ईश्वर का ही आश्रय लेता है उसको मच्छरण कहते हैं। १८—जो वेद तथा शास्त्र के अर्थ का मनन करता है। तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर लिये है उसको मुनि कहते हैं। १९—जो सदा सावधान रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है उसको अप्रमत्त कहते हैं। २०—जो समस्त विकारों से रहित होता है उसको गंभीरात्मा कहते हैं। २१—जो विपत्ति आने पर भी नहीं घबड़ाता उसको धृतिमान कहते हैं। २२—जो भूख-प्यास शोक मोह-जरामृत्यु को जीत लेता है उसको जितषड्गुण कहते हैं। २३—जिसको मान की इच्छा नहीं होती उसको अमानी कहते हैं। २४—जो अन्य को मान देता है उसको मानद कहते हैं। २५—जो अन्य को तत्वज्ञान समझाने में कुशल है। उसको कल्प

कहते हैं। २६–जो किसी की वञ्चना नहीं करता है। सबसे मित्रता की भावना करता है। उसको मैत्र कहते हैं। २७—जो करुणा से ही अन्य की भलाई में प्रवृत्त होता है। धनादि के लोभ से नहीं। उसको कारुणिक कहते हैं। २८—जो सब धर्मों को तथा सब पदार्थों को अच्छी तरह से जानता है। उसको कवि कहते हैं। २९—वेद रूप से मेरे उपदेश किये हुये अपने धर्म के गुण दोष को जानकर भी जो उनको त्यागकर मुझको भजता है। वह साधु है। ३०—मैं जो जितना जिस तरह का हूँ उस मेरे रूप को जानकर अथवा न जानकर अनन्य भाव से जो मेरी भक्ति करता है वह साधु है। इसका ही अनुवाद रामचरितमानस में है। यथा—

षट् विकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन शुचि सुख धामा॥
अमित वोध अनीह मित भोगी।
सत्यसार कवि कोविद योगी॥
सावधान मानद मद हीना।
धीर धर्मगति परम प्रवीना॥

गुनागार संसार दुख रहित विगत संदेह।
तजिमम चरन सरोज प्रिय तिन कहँ देह न गेह॥

अरण्य काण्ड ४५ दोहा

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।
परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती।
सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती॥

जप तप व्रत संयम नेमा।
गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा ।। इत्यादि

रामचरितमानस में कई प्रसंगो में साधु लक्षण का वर्णन है। उसे देखना चाहिये और भी कहा है।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्देषु योजितः ।।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ।।
भा० १-१८-५०

प्राय: दूसरे से दुखी करने पर भी इस लोके में साधु न दुःखी होते है न सुखी होते हैं क्योंकि आत्मा सर्व गुणों से रहित है। उसमें सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता ।।

तितिक्षवः कारुणिकः सुहृदः सर्व देहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधु भूषणः ।। ३-२५,२७

सब दुःखों को बिना प्रतिकार किये सहन करने वाले कारुणिक सर्वदेह धारियों के सुहृद अजातशत्रु साधु साधुओं में भूषण हैं।

इस प्रकार साधु का लक्षण श्रुति स्मृति पुराण तथा इतिहास में विस्तार से वर्णित है। कहीं साक्षात् साधु शब्द के द्वारा कही इसके पर्य्यायवाची शब्दों के द्वारा कहीं संक्षेप कहीं विस्तार से वर्णन किया गया है। अतएव अब यह निश्चित हो गया कि जो स्वधर्म का पालन करता है। वही साधु है। साधु का कोई वाह्य वेष निश्चित नहीं। जिस देश काल में जिस वेष की आवश्यकता हुई। वही वेष साधु का हो गया। किन्तु साधु के वेष में आडम्बर नहीं होता सात्विक सरल बनावट से रहित

होता है। चाहेवह किसी भी आश्रम या देश जाति संप्रदाय मत मजहब में हो किन्तु जो सन्यासाश्रम में रहने वाले है। उनका वेष निर्धनों के समान होता है। संसार भर में जितने मत प्रचलित हैं। जो निवृत्ति मार्ग प्रधान है। उन सभी मतों में यह सिद्धान्त माना गया है कि इस मार्ग में चलने वाले का यह परम-कर्त्तव्य है कि धन का संग्रह न करै। भिक्षा से जीवन निर्वाह करै अथवा जिस देश काल में जिस साधन से सरलता से शरीर की रक्षा हो जाय वही करै। और तत्व के विचार में ही लगा रहे।

संसार में प्रायः सभी मनुष्य रात्रि दिवस विषयोपभोग प्राप्ति के लिये भ्रमण कर रहे हैं। किन्तु विषयोप भोग की प्राप्ति पूर्ण रूप से किसी को होती नहीं। यदि होती भी है तो उससे सुख शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। जब से मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ है तबसे आज तक का इतिहास साक्षी है। अतएव साधुजन विषय प्राप्ति के लिए भ्रमण नहीं करते हैं। तथा मनुष्यों को उपदेश भी ऐसा ही देते हैं जिससे वह विषय विमुख होकर तत्वज्ञान की ओर अग्रसर हो। किन्तु वर्तमान समय में अपने आपको साधु नाम से प्रसिद्ध करने वाले भी विषयोपभोग की प्राप्ति के लिए भ्रमण कर रहे हैं। जिनके पूर्वजों ने विषय परित्याग का उपदेश किया था स्वयं विषयोपभोग से रहित होकर अपना जीवन सरलता से बिताते थे। जो जंगलों पर्वतों नदी पुलिनों पर निवास करते थे। पर्णकुटी वल्कल फल पुष्प या भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करते थे। कभी किसी प्रकार का संग्रह नहीं करते थे आज उन्हीं के नाम से उन्हीं के महत्व गुणगान करके उनके अनुयायी बन करके भी स्वयं विषयोपभोग की सामग्री इकट्ठा करके उसमें लिप्त हो जाते हैं। राजाओं को भी जिसका निषेध है। उस कार्य को करते हैं। और कहते हैं कि हम तो आचार्य्य हैं उपदेशक हैं। गुरु हैं। सिद्ध हैं। परमहंस हैं। अवधूत हैं। वैरागी हैं। वैष्णव हैं।

रसिक हैं। भक्ताचार्य्य हैं। भिक्षु हैं। फकीर हैं। पादरी हैं–पोप हैं। पैगम्बर हैं। ईश्वर हैं इत्यादि। यदि उनके धर्म ग्रन्थों को देखा जाय तो कहीं ऐसा विधान नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि ऐसा विधान है तो उनमें और अन्य लोगों में भेद ही क्या रहा। क्योंकि अन्यों के समान ये लोग भी राग द्वेष आदि से दूषित होकर दुःखी होते हैं। ज्ञान भक्ति धर्म की केवल बातें करते हैं। अन्तःकरण अनेक वासनाजाल से तथा दुःख से परिपूर्ण रहता है। इसी कारण प्राचीन समय से श्रुति स्मृति पुराण इतिहास तथा अन्य मतावलम्बी बौद्ध जैन मुसल्मान ईसाई आदि के धर्म ग्रंथों में त्याग के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। और गृह त्याग करने वाले के लिए सर्वथा धनादि संग्रह के त्याग का ही विधान है। वास्तव में वही साधु कहने के योग्य है। जो समस्त कष्टों को सहन करता हुआ भी परमानन्द सुधा सिन्धु में निमग्न रहता है। जिसके दर्शन करने वाले भी दुःख ताप से रहित होकर परमानन्द में लीन हो जाते हैं। जैसा कि शास्त्र का वचन है।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् :
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ भा०-११-२६

जैसे भगवान् अग्नि की सेवा करने से शीत भय और तम दूर हो जाता है। तैसे ही साधु की सम्यक् प्रकार से सेवा करने से संसार के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। यह केवल प्रशंसा ही नहीं है। किन्तु वस्तु स्थिति है। क्योंकि जैसे अग्नि सर्वत्र विराजमान है। किन्तु वह सर्व व्यापक अग्नि शीत आदि के दूर करने में समर्थ नहीं होता। जहाँ काष्ठ आदि उपाधि के द्वारा प्रगट होता वहीं पर शीत भय तम को दूर करता है। ऐसे ही ब्रह्म सच्चिदानन्द घन सर्वव्यापक है किन्तु दुःखी प्राणियों के दुःख दूर नहीं करता

क्योंकि ब्रह्म की सच्चिदानन्दघनता प्रतीत नहीं होती। वही जब किसी विशेष उपाधि के द्वारा प्रगट होता है। तब उसके दर्शन करते ही दर्शक के समस्त दुःख निवृत्त होकर परमानन्द स्वरूपता की प्राप्ति हो जाती है। साधुओं में वही सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रगट होता है। अतएव साधु दर्शन से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। यदि साधु दर्शन से परमानन्द की प्राप्ति न हो तो समझना चाहिये कि कोई विशेष प्रतिबन्धक है। अथवा सच्चे साधु का दर्शन नहीं हुआ। विशेषकर निर्धन ही साधु दर्शन से परमानन्द को प्राप्त करता है। क्योंकि वह निर्धनता रूपी दुःख से अधिक दुःखी रहता है। जिस समय उसको साधु दर्शन होता है। तो स्वभावतः परमानंद में डूब जाता है। साथ ही विवेक भी समुत्पन्न होता है। वह जब दर्शन करता है तब विचार करता है कि देखने में यह साधु हमसे भी अधिक निर्धन है निःसहाय है। क्योंकि इसके शरीर पर वस्त्र भी अच्छे नहीं हैं फटे पुराने अथवा साधारण ही वस्त्र हैं अथवा दिगम्बर है। अथवा भोजन के लिये भी कोई संग्रह नहीं, रहने के लिये कोई गृह नहीं। लड़के बच्चे कुटुम्ब सम्बन्धी कोई नहीं। और अन्य कोई सहायक नहीं। भिक्षा मांगकर भोजन करता है। जो कुछ रूखा सूखा मिल जाता है उसी से जीवन निर्वाह करता है। जहाँ कहीं सो रहता है। तब भी इस साधु के मुख मण्डल पर आनन्द समुद्र की लहर लहराया करती है। इससे प्रतीत होता है निर्धनता में, सांसारिक पदार्थों के अभाव में, असहायता में दुःख नहीं है। तथा धन, संपत्ति सांसारिक पदार्थों के होने पर भी सुख नहीं। क्योंकि जैसा सुखी यह साधु है वैसा सुख किसी भी सांसारिक सर्व विषय सम्पन्न चक्रवर्ती महाराजा को भी नहीं होता है। अतएव सुख तथा सुख साधन कोई अन्य ही है। ऐसा विचार कर साधु की विशेष संगति करता है। साधुओं से प्रश्न करता है। सुख तथा सुख का वास्त-

विक साधन प्राप्त कर सुखी होता है। सुख साधन नामक पुस्तक में हमने सुख तथा सुख साधन का विचार किया है। उसको देखना चाहिए। और भी कहा है कि—

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः चिणोति तं तर्षंतत आराद्विशुध्यति ॥

भा० १०-१०-१७

समदर्शी साधु दरिद्र के ही समीप जाते हैं। साधु के दर्शन उपदेश से दरिद्र की धन तृष्णा चीण हो जाती है। तृष्णा चीण होते ही उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

अन्तःकरण शुद्ध होते ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का दर्शन होता है। उसके दर्शन होते ही आत्यन्तिक दुःख विनाश तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि साधु दरिद्रों को ही क्यों प्राप्त होते हैं। धनिकों को क्यों नहीं मिलते। आजकल तो अपने आपको साधु कहलाने वाले धनिकों को ही प्राप्त होते हैं। यद्यपि धनिक नहीं चाहते कि ये साधु हमारे पास आवें तब भी उनके यहाँ दौड़ २ कर जाते हैं। निर्धन विचारे को तो दर्शन भी नहीं देते क्योंकि उसके पास कुछ भेंट पूजा की सामग्री होती नहीं। बिना भेंट पूजा पधरावनी आदि के किसी के गृह पर जाते नहीं। न दर्शन ही देते हैं। इस पर शास्त्र का वचन है।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्द चरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तंभैरद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥

श्री मुकुन्द भगवान् के चरण की इच्छा वाले समचित्त साधुओं का सबकी उपेक्षा करने वाले धनमदमत्त स्तम्भ के समान किसी के सामने नम्र न होने वाले असत् का आश्रय करने वाले असत् धनिकों से क्या प्रयोजन है। जिसके लिए उन धनिकों के द्वार

पर ठोकर खाने के लिए जाँय। जो धन तथा सांसारिक विषय-लोलुप हैं केवल साधु नाम रख लिया है या वेष बना लिया है। वही श्वान की भांति धनिकों के पीछे दौड़ता है। अतएव साधु दर्शन दरिद्रों को सुलभ है। क्योंकि साधु भिक्षा मांगने के व्याज से दरिद्रों के यहाँ बिना रोक टोक के चला जाता है। धनिकों के यहाँ जाना ही कठिन है। यदि कदाचित् उनके यहाँ पर जाय भी तो वहाँ पर द्वारपालों के द्वारा रोक दिया जाता है। अनेक प्रकार के अपशब्द श्रवण करना पड़ता है। घण्टों आदेश की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में सच्चा साधु वहाँ पर कैसे ठहर सकता है। यदि कहा जाय कि निर्धनी भिक्षा कैसे देगा। तो साधु को भिक्षा देना कोई कठिन नहीं क्योंकि साधु भिक्षा में कोई ऐसी वस्तु नहीं मांगता जो कि दरिद्र के गृह में न हो। एक टुकड़ा या ग्रास देने में किसी को भी आपत्ति नहीं होती। यदि कुछ नहीं है तो जल तो सबके यहाँ रहता है। अथवा प्रियवचन का अभाव भी नहीं रहता। इसी कारण साधु माधुकरी वृत्ति धारण करता है। जैसे मधुकर थोड़ा २ रस सब पुष्पों से ले लेता है। किसी पुष्प को हानि नहीं पहुँचाता। ऐसे ही साधु थोड़ी २ भिक्षा गृहस्थों के यहाँ से लेता है किसी को दुःख नहीं देता। किन्तु सब लोग प्रसन्नता पूर्वक ऐसे साधु को भिक्षा देते हैं। इस प्रकार साधु की महिमा का वर्णन सभी ग्रन्थों में है। विस्तारभय से थोड़ा सा लिखा है। यदि सच्चा साधु एक भी हो तो वह अपना तथा अपने अनुयायियों का भी उद्धार करता है। किन्तु जो केवल सांसारिक विषयोपभोग की प्राप्ति के लिए साधु नाम रखकर अन्य को ठगता है। मांग मांग कर करोड़ों की संपत्ति संपादन करता है। कहीं धर्म प्रचार के व्याज से धन इकट्ठा करता है। कहीं मठ मन्दिर साधु सेवा के लिये धन संग्रह करता है। राजा महाराजाओं के समान छत्र चमर स्वर्ण जटित सिंहासन सुवर्ण रौप्य निर्मित

पात्र आदि का संग्रह करके उनकी रक्षा के लिये शस्त्र धारी मनुष्यों को रखता है। अथवा ईश्वर की सगुण मूर्ति पूजा के व्याज से सुवर्ण रौप्यादि पात्रों का संग्रह करता है। धनादि संग्रह के लिये अनेकों प्रकार का दंभ करता है अच्छे अच्छे विद्वानों को धन देकर साथ में रखता है। उनके द्वारा अपनी सिद्धियों का प्रचार जनता में करवाता है। कितने तो ईश्वर के साक्षात् अवतार अपने आप को सिद्ध करते हैं। कितने योगी बनते हैं।

किन्तु ऐसे बनावटी लोगों से जनता का कल्याण नहीं होता। उनके वाह्याडम्बर को देखकर तथा प्रचारकों के प्रचार जाल में फंस कर प्रथम तो जनता आकर्षित होती है। किन्तु पश्चात् विरत हो जाती है। उनके आचरणों को देखकर ईश्वर तथा धर्म से श्रद्धा चली जाती है। अतएव जनता का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह सुशिक्षित बने शास्त्रों का अध्ययन करै। उनमें जो लक्षण निवृति मार्ग पर चलने वालों के लिखे हैं। उनका विचार करै। जिनमें लक्षण हों उनको साधु समझे। विशेषकर शासक वर्ग का कर्तव्य है कि वे लोग जनता के कल्याण के लिये ऐसे लोगों की परीक्षा करै। जो लोग अपने आपको साधु या सिद्ध कहते हैं। या किसी विशिष्ट संप्रदाय के आचार्य बनते हैं। वे उस संप्रदाय में प्रतिपादित सिद्धांन्तानुसार आचरण करते हैं या नहीं। यदि नहीं करते तो उन्हीं के संप्रदायानुसार उनको दण्ड देना चाहिये। प्रायः सभी संप्रदायों के ग्रन्थों में उसके आचरण न करने वाले के लिये दण्ड का विधान है।

वास्तव में जो साधु हैं वे कभी किसी प्रकार का छल कपट आदि नहीं करते जो निवृति मार्ग पर चलने वाले हैं। वे किसी से संघर्ष भी नहीं करते। केवल तत्व का विचार करते हैं। तथा संसार के प्राणियों का कल्याण जिस प्रकार हो। उसका विचार करते हैं। उनका अभिनिवेश किसी विशेष मत में नहीं होता है।

जिससे मनुष्यों का कल्याण हो वही मार्ग सबको बतलाते हैं। किसी प्रकार का प्रभाव डालकर अपनी बात को किसी से मान लेने का आग्रह नहीं करते। केवल अपना कर्तव्य समझकर ही जो जिस मार्ग पर चलने का अधिकारी होता है। उसको वही मार्ग प्रदर्शित करते हैं। यदि उनके बतलाये हुए मार्ग पर कोई नहीं चलता हैं तो बलात् उससे चलने का आग्रह नहीं करते। क्योंकि वे जानते हैं कि यह संसार विचित्र है। मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है। स्वयं भूल करता हुआ भी अपनी भूल स्वीकार नहीं करता जब उस भूल का फल मिलता है। तब दुःखी होता है अतएव साधु उसका भूल को बतलाते हैं वह माने या न माने। यदि भूल को मानकर सही मार्ग पर चलता है तो सुखी होता है। नहीं दुःख तो मिलता ही है। साधु को उससे कुछ लाभ या हानि नहीं होती। वह तो केवल दया वश सुमार्ग बतलाता है।

निवृत्ति मार्ग पर चलने वाला साधु प्रवृत्ति मार्ग वाले को कभी भी यह उपदेश नहीं देता कि प्रवृत्ति में नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार प्रवृत्ति मार्ग में चलने वाला निवृत्ति मार्ग वाले को प्रवृत्ति मार्ग पर चलने का आग्रह नहीं करता। वैदिक धर्म में सभी बातों की सुव्यवस्था है। जो जिस मार्ग का अधिकारी है वह उस पर चले। इसी कारण वर्णाश्रम का विभाग है। जब से वैदिक धर्म का ह्रास हुआ। तब से ही अनेक मत चले। जो जिस मत का चलाने वाला हुआ वह उसी मत के मानने के लिये सब से आग्रह करने लगा। अधिकारी का विचार करना परित्याग कर दिया। निवृत्ति मार्ग वाले सबको निवृत्ति मार्ग पर चलने का उपदेश देने लगें। प्रवृत्ति की निन्दा करने लगे। प्रवृत्ति वाले सब को प्रवृत्ति मार्ग पर चलने का आग्रह करने लगे। शास्त्रों के वचनों को तोड़ मरोड़ कर अपने पक्ष की सिद्धि के लिये अपने सिद्धान्त के अनुकूल

लगाने लगे।

वर्णाश्रम व्यवस्था नष्ट हो गई। दलबन्दी के दलदल में विद्वान् भी फंस गये। निवृत्ति मार्ग के नाम से अनेकों पंथ चल पड़े। उन पंथों के चलाने वाले एक दूसरे की बुराई करने में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। इसी कारण आपस में लड़ाई झगड़े होने लगे। नाम मात्र के निवृत्ति मार्ग के साधु रह गये। गृहस्थाश्रम के समान ही गृहस्थाश्रम को त्यागने वाले भी धनादि संग्रह में जुट गये। पर्ण कुटियों के स्थान पर महल बन गये। स्त्री के स्थान पर चेलियां आ गईं। पुत्र के स्थान पर चेले हो गये। अनेक प्रकार वेष धारण करके जनता को ठगने लगे दंभ पाखंड की प्रवलता हो गई। इसी कारण एक दूसरे को आपस में ही क्लेश देने लगे। यदि वास्तव में निवृत्ति मार्ग पर चलने वाला हो जैसा कि सन्यास धर्म में बतलाया है। तो उससे किसी को भी क्लेश नहीं होता। किन्तु उसके दर्शन से क्लेश निवृत्त हो जाता है। सन्यासी गृहस्थों के गृह में भिक्षा करने जाता है। किन्तु उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले को सन्यासाश्रम में जाने के लिये आग्रह नहीं करता है। भिक्षा भी केवल शरीर निर्वाह के लिये करता है।

किसी में आसक्त नहीं होती है। निर्धन की कुटिया में जाता है राजमहल में भी जाता है। किन्तु किसी से भी धनादि की याचना नहीं करता है। सबको शन्ति प्राप्ति का मार्ग बतलाता है। सदा भ्रमण करता है इसी कारण इसको परिव्राजक भी कहते हैं। इस प्रकार का सन्यासी संसार के मनुष्यों का अधिक कल्याण करता है। उसके बुलाने के लिये धन की आवश्यकता नहीं होती। वह बिना बुलाये ही गृहस्थों के घर पर जाता है। शास्त्र के सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति कहा करते हैं कि साधु क्यों किसी के घर जाया करै। वह तो जंगल में ही रहता है। किन्तु

शास्त्र के सिद्धान्त को जानने वाले सभी आचार्य इस सिद्धान्त को मानते हैं कि सन्यासी धनादि का संग्रह नहीं करता भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करता हुआ मानव मात्र के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करता है। अतएव अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत द्वैतादि दार्शनिक सिद्धान्तों में सूक्ष्म मतभेद होने पर भी ज्ञानी भक्त गुणातीत तथा साधुओं का लक्षण जहाँ कही शास्त्रों में आया है। उसके भाष्य में प्राय: कोई विरोध नहीं। क्योंकि ज्ञानी आदि का वाह्य लक्षण सबके मत में एक सा ही है।

जैन, बौद्ध, ईशाई–मुसलमानों के भी धार्मिक ग्रन्थों में इसी प्रकार का लक्षण बतलाया गया है। जैसा कि वैदिक ग्रन्थों में है। जैन धर्म में दिगम्बर रहने का अति महत्व है। उन दिगम्बरों को संग्रह त्याग का सर्वथा विधान है। तथा भिक्षा से जीवन निर्वाह की विधि है।

बौद्ध धर्म में भिक्षु भिक्षा से ही जीवन निर्वाह करते हैं। ऐसे ही ईसाई मत में संग्रह का महत्व नहीं। मुसलमानों में फकीर भिक्षा हीमांगकर जीवन निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार और भी जितने मत हैं। जैसे वैरागी, उदासी, निर्मले, कबीर पन्थी, दादू पन्थी, नानक पन्थी, गरीबदासी आदि इन सभी पन्थों में भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह करने का महत्व है। उनके मत के ग्रन्थों में संग्रह करने का विधान नहीं। यदि उन सबके मतों का उद्धरण किया जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाय। अतएव जिनको उनके सब मतों के जानने की इच्छा हो वे उन्हीं के ग्रन्थों को देखैं॥ यदि कोई शब्दों की खींचातानी करके अथवा सामयिक आवश्यकता को दिखलाकर कि गृहस्थाश्रम त्यागने वाले को भी धर्मादि प्रचार के लिये धनादि का संग्रह करना चाहिये। जैसा की वर्तमान समय में महन्थ मण्डलेश्वर तथा आचार्य नामधारी करते हैं इनमें कुछ लोग शास्त्र वाक्य को ही बदल देते

हैं। कुछ उसके अभिप्राय को बदलते हैं। कुछ नये श्लोक बनाकर तन्त्र ग्रन्थों में मिला दिये हैं।

अपने पांडित्य के बल से शास्त्र क तात्पर्य्य को चाहे जैसा लगा सकते हैं। किन्तु चाहे कोई कितना ही बड़ा पण्डित हो सिद्ध हो। यदि उस पांडित्य के या सिद्धि के मद से मत्त होकर धन संग्रह करता है तो शास्त्र में कहे हुए दोष अवश्य आते हैं। उस धन संग्रह का दोष अब बतलाते हैं। श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्ध में एक भिक्षु ने वर्णन किया है।

स्तेयं हिंसानृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयोमदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानिच॥
एते पञ्च दशानर्था ह्यर्थमूला मतानृणाम्।
तस्माद नर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्वजेत॥ ११-२३-१६

१ स्तेय २ हिंसा ३ असत्य ४ दम्भ ५ काम ६ क्रोध ७ स्मय ८ मद ९ भेद १० वैर ११ अविश्वास १२ संस्पर्धा १३ स्त्री १४ द्यूत १५ मद्य।

धन की प्राप्ति के लिए ही चोर चोरी करता है। तथा जिसके पास धन होता है उसी के घर चोर आता है। अन्याय से धन संग्रह करने का नाम चोरी है आजकल साधु भेष में चोर बहुत भ्रमण किया करते हैं। अनेक प्रकार के छल कपट से धन लेने का ही प्रयत्न करते हैं। अतएव साधु वेष कलंकित हो गया है। चोरी से धन संग्रह करने वाले को शान्ति कभी नहीं मिलती। यदि चोर कहीं पकड़ा जाता है तो उसको शारीरिक दंड भी पर्याप्त रूप से मिलता है। धन प्राप्ति के लिए ही हिंसा करते हैं। जिसके समीप धन होता है उसी को मार कर धन ले जाते हैं। अथवा कष्ट देकर धन छीन लेते हैं। यदि कष्ट न भी दिया तो धन जाने पर अति कष्ट होता है। कभी कभी धन वियोग से प्राण का भी वियोग हो

जाता है। पिता की हत्या पुत्र कर देता है। पिता पुत्र की हत्या करता है। शिष्य गुरु की हत्या करता है गुरु शिष्य की हत्या करता है। स्त्री पति की पति स्त्री की हत्या करता है। भाई भाई की हत्या करता है। अतएव धन ही हिंसा का हेतु है। धन प्राप्ति के ही लिये असत्य भाषण करते हैं। क्योंकि सत्य भाषण से अधिक धन नहीं मिलता असत्य भाषणों के द्वारा धनदाताओं को मोहित करके ही उनसे धन ग्रहण करते हैं। पुनः धन को गुप्त रखने के लिये भी असत्य भाषण करना पड़ता है। धन प्राप्ति के ही लिये दंभ किया जाता है। अपने आप ही अपनी प्रशंसा करना अथवा किसी के द्वारा करवाना। अन्य से धन लेने के लिए ही धारणा, ध्यान, समाधि, जप, तप, यज्ञ, पाठ पूजन करना। दम्भ कहा जाता है। धन होने पर ही विषयोपभोग की इच्छा होती है। निर्धनी पुरुष को क्या इच्छा होगी यदि होगी भी तो रोटी वस्त्र की। अतएव विषयोपभोग की इच्छा का हेतु भी धन ही है। यदि विषय की इच्छा पूर्ति में किसी प्रकार का विघ्न पड़ गया तो विघ्न करने वाले पर क्रोध आता है। क्रोध के वश में होकर अनेक प्रकार का अनर्थ करता है।

बड़े से बड़े युद्ध क्रोध के ही परिणाम होते हैं जिसमें असंख्यों मनुष्यों की हत्या हो जाती है। धन से ही गर्व होता है। धन के ही कारण इष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर अन्य का तिरस्कार करता। इसी को स्मय कहते हैं। अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानना ही एक प्रकार का मद है। अर्थात् धन की मादकता के कारण ही कुछ सूझता नहीं जिसमें किसी का सत्कार नहीं करता धन से ही परस्पर कलह उत्पन्न होता है। कलह के उत्पादन को ही भेद कहते हैं। धन के ही कारण द्वेष बढ़ता है। द्वेष को ही वैर कहते हैं धनी किसी का भी विश्वास नहीं करता है। इसी कारण उसका भी कोई विश्वास नहीं करता है। धन से ही अविश्वास उत्पन्न

होता है धन के ही कारण अन्य के शुभ को देखकर सहन नहीं होता है। अभिप्राय यह कि धन मिल जाने पर यदि अन्य के पास अपने से अधिक धनादि देखता है तो सहन नहीं करता उससे अधिक बढ़ने की तथा उसको नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। धन के ही कारण स्त्री के व्यसन में फँसकर अपना जीवन नष्ट करता है। धन की ही प्राप्ति के लिए द्यूत (जुआ) खेलता है। जिसके पास धन होता है वह उसको बढ़ाने के लिये द्यूत खेलता है।

जिस प्रकार यह १५ अनर्थों का मूल अर्थ नाम वाला है। तिस कारण अपना कल्याण चाहने वाला पुरुष दूर से ही इसका परित्याग कर दे। धन सदा अनर्थ का मूल है कलि में विशेष रूप से है क्योंकि इसमें कलि का निवास है। जैसा कि भागवत में वर्णन है जब कलिका निग्रह राजा परीक्षित ने किया तब उसने अपने रहने के लिए स्थान माँगा राजा परीक्षित ने उसकी प्रार्थना पर उसे चार स्थान दिया।

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मचतुर्विधः॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्॥
अमूनिपञ्चस्थानानि ह्यधर्म प्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्नि देशकृत॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्म शीलो राजा लोक पतिर्गुरुः॥

भा० १-१७-४१

उस समय उसकी प्रार्थना पर द्यूत-पान-स्त्री-सूना जिसमें

..र प्रकार का अधर्म होता है। राजा ने दिया, इसमें संतुष्ट न होकर कलि ने जब पुनः याचना किया तो राजा ने सुवर्ण दिया। जिससे असत्य मद काम रजोगुण और पाँचवां वैर होता है। अतएव जो पुरुष अपना कल्याण चाहता है उसको इनका सेवन नहीं करना चाहिये। विशेष कर धर्मशील राजा जो लोगों का स्वामी है और सर्वश्रेष्ठ है अथवा जो सबका गुरु है शिक्षक है। वह इनका सेवन कभी नहीं करै। अर्थात् द्यूत-मद्य-स्त्री-हिंसा और स्वर्ण का सेवन न करै। यदि इनका सेवन करैगा तो कलि के प्रभाव से अवश्य प्रभावित होगा। यदि गृहस्थाश्रम में है तब भी धनादि का संग्रह अधिक न करे। जैसा कि प्राचीन समय में लोग करते थे जहाँ धन अधिक प्राप्त हुआ उसको यज्ञ दानादि के द्वारा व्यय कर देते थे ऋषि मुनि वन में पर्ण कुटी बनाकर निवास करते थे। वन में उत्पन्न होने वाले पदार्थों के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे। सन्यासी भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करते थे। एक स्थान में निवास नहीं करते थे इसी कारण उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता था सुख शान्तिमय उनका जीवन था। अतएव यह निश्चित हो गया कि वास्तव में साधु वही है। जो किसी भी प्रकार का संग्रह न करके निर्धनों के समान जीवन व्यतीत करता है। तथा परमानन्द सुधासिन्धु में निमग्न रहता है। वह परमानंद सुधासिन्धु निजात्मा ही है वही परम धन है। किन्तु जब तक मन वाह्य मिथ्या पदार्थों की ओर भ्रमण करता रहता है। तब तक उसका साक्षात्कार नहीं होता। अतएव मन को वाह्य विषयों से रोक कर अन्तर्मुख करना ही समस्त मनुष्यों का परम कर्तव्य है। इस कर्तव्य का पालन करने वाला ही साधु सुखी रहता है। (हमसे अनुवादित महा वाक्य रत्नावली पढ़िये)।

धनी दुखी निर्धन दुखी, दुखी रहैं सब लोग।
साधु सुखी हरि के मिले, तज्यो विषयसुखभोग ॥१॥

साधु कहावत फिरत जग, करत राजसी भोग।
साधू का सुख मिलत नहिं, छुटत नहीं भव रोग ॥२॥
साधू दर्शन पढ़त ही, साधू दर्शन होय।
साधू ह्वै विचरै जगत, साधु कहावै सोय ॥३॥
व्रजनन्दन नित बसतजंह, वृन्दावन सुखधाम।
रमणरेति अति रमण है, कमलापति विश्राम ॥४॥
वर्षाऋतु सुखदायिनी, श्रावण भादों मास।
सुख पूर्वक पूरण किये, रामदेव सुनिवास ॥५॥
गुरुदिन वामनद्वादशी, समद्विसहस्रदशएक।
हरि गुरु कृपा कटाक्ष से, भयो विघ्न नहि एक ॥६॥
रामारामापति सदा, वसहु सकल जग मांहि।
सत चित आनन्द रूप लखि, रामदेव हर्षांहि ॥७॥
